संवित्स्वातन्त्र्यम्

महामहोपाध्याय-आचार्यरामेश्वरझा विरचितम्

प्रकाशक :

श्री अरुण कृष्ण जोशी

श्री विजय कृष्ण जोशी

संवित्स्वातन्त्र्यम्

महामहोपाध्याय-आचार्यरामेश्वरझा विरचितम्

अनुवादक :

डॉ० कमलेश झा

प्रकाशक :

श्री अरुण कृष्ण जोशी

श्री विजय कृष्ण जोशी

* सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृताः।

* प्रथमम् संस्करणम्, २००३ ई०

* मूल्यम् : २५०/=

* प्रधानसम्पादकः अनुवादकश्च—
आचार्यकमलेशझा
अध्यक्ष, धर्मागम विभाग
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी
पिन - २२१००५

* सम्पादकः -
पं० श्रीजीवेशझा
बी. ३७/१८९, जोशी निवास
बैजनत्था, वाराणसी

* पुस्तकप्राप्तिस्थानम् -
जोशी निवास, बी. ३७/१८९
बैजनत्था, वाराणसी
☎ २३६१६४७

* प्रकाशक : - श्रीअरुणकृष्णजोशी
श्रीविजयकृष्णजोशी

* कम्प्यूटराइटर : शुभम् प्रिन्टर्स, अस्सी, वाराणसी
☎ २३६६६७३, २२७६८७२

* मुद्रक : प्रत्यभिज्ञा प्रेस, विरदोपुर, वाराणसी
☎ २३६०१६९

महामहोपाध्याय आचार्यरामेश्वरझा
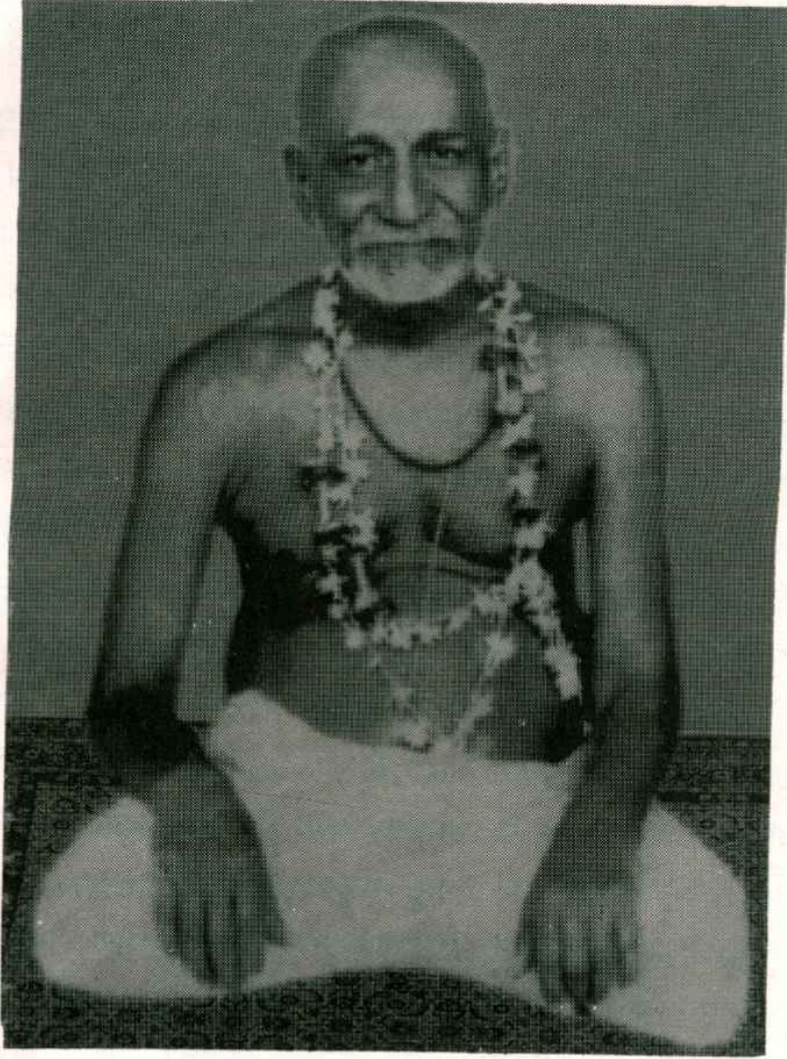
पूर्णः स एकोस्ति महेश्वरो मे
योऽगाधरूपो न विभात्यरूपः।
रामेश्वरः शब्दनशब्दरूपोऽ
हंमात्रवाच्योऽस्म्यविकल्परूपः।।
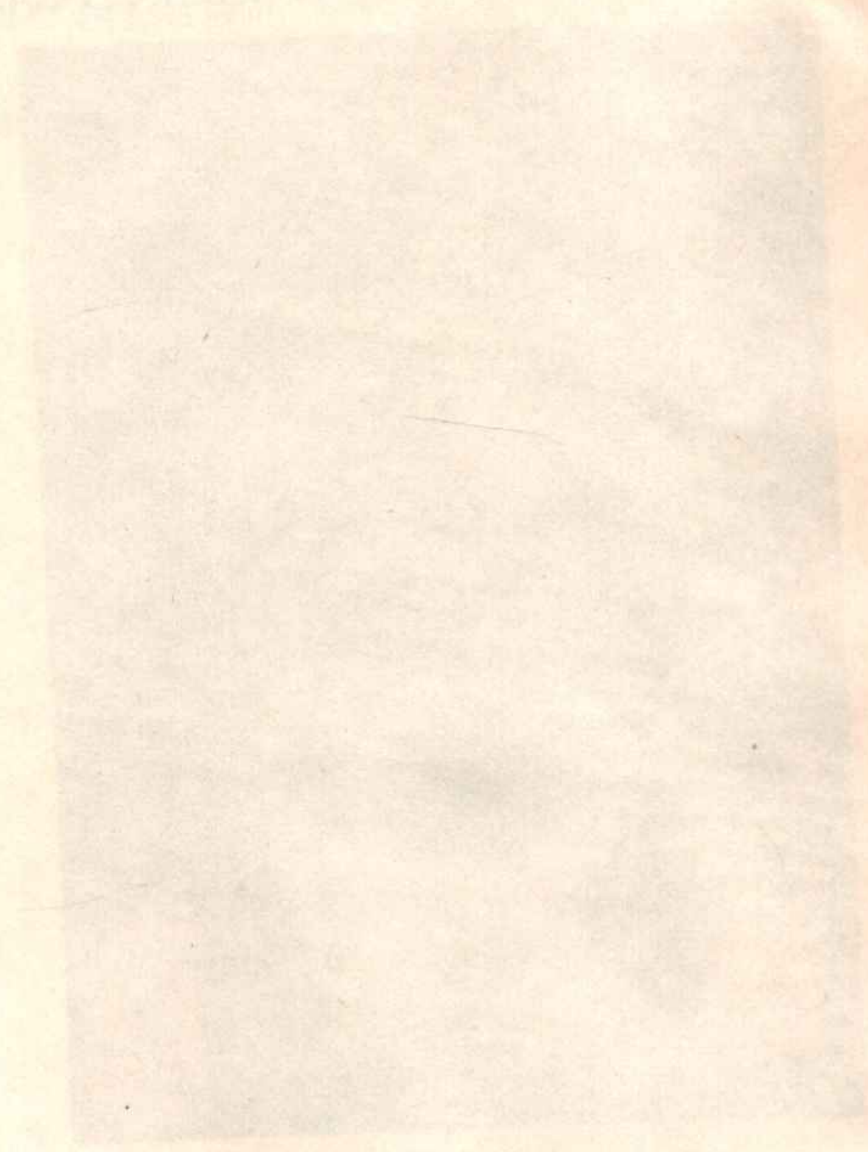
श्रीः

पुरोवाक्

गुरुवर्य महामहोपाध्याय आचार्य पण्डित रामेश्वर झा महान् विद्वान् एवम् अप्रतिम योगी थे। काश्मीर के शिवाद्वयवाद को काशी में प्रतिष्ठित करने तथा काश्मीरीय शिवाद्वयवाद के ग्रन्थों को पङ्क्तिशः पढ़ाने की परम्परा को काशी में स्थापित करने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ जी कविराज एक ओर अपने प्रवचनों तथा अपने विपुल लेखन द्वारा समस्त तान्त्रिक परम्परा का पुनः उद्धार कर रहे थे, तो दूसरी ओर महामहोपाध्याय आचार्य रामेश्वर झा जी अपनी निर्बाध साधना द्वारा काशी को अन्वर्थ रूप में आलोकित कर रहे थे और छात्रों से घिरे रहकर ग्रन्थों के मर्म को सतत प्रकाशित कर रहे थे। शिवाद्वयवादी परम्परा के अविच्छिन्न प्रवाह को हमारे समय में ले आने वाले काश्मीर के महान् योगी स्वामी लक्ष्मण जू देव के साथ गुरुवर्य आचार्य रामेश्वर झा का परस्पर एक दूसरे को अलौकिकरूप में देखने का भाव था। गुरुजी उन्हें साक्षात् गुरु के रूप में देखते थे। कविराज जी और गुरुजी का भी अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। महामहोपाध्याय झा जी ने बीसवीं शताब्दी में काश्मीर के शिवाद्वयवाद पर शास्त्रीय शैली में ''पूर्णताप्रत्यभिज्ञा'' नामक महान् ग्रन्थ का प्रणयन किया, जो काश्मीरीय शिवाद्वयवादी दर्शन तथा साधना का एकत्र व्यवस्थित, संक्षिप्त सन्दर्भों से पूर्ण, प्रामाणिक, सुस्पष्ट तथा समग्र विवरण प्रस्तुत करता है। ''पूर्णताप्रत्यभिज्ञा'' बीसवीं शताब्दी में इस विषय पर संस्कृत में लिखा गया अप्रतिम ग्रन्थ है। महामहोपाध्याय आचार्य झा जी महान् वेदान्ती, नैयायिक और वैयाकरण भी थे।

इन पङ्क्तियों के लेखक को काश्मीरीय शिवाद्वयवाद के ग्रन्थों को पढ़ाने के बाद उन्होंने अनुग्रहपूर्वक "वाक्यपदीय" का अध्यापन किया और वैयाकरण दर्शन के मर्म को समझाया। "वाक्यपदीय" के प्राचीन टीकाकारों ने कहाँ वैयाकरण दर्शन के सम्प्रदाय को ठीक-ठीक नही रखा है- यह भी इन्होंने बतलाया। उन्होंने इसी आशय को व्यक्त करने के लिये "वाक्यपदीय" के स्थल-स्थल पर अत्यन्त संक्षिप्त टिप्पणी भी लिखी, जो अभी पण्डित जीवेश झा के पास सुरक्षित है और प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही है। उन्होंने "वाक्यपदीय" में प्रतिपादित विषयों पर कारिकाओं का एक विशिष्ट क्रम में सङ्ग्रह भी किया। वह भी पण्डित जीवेश झा के पास सुरक्षित है। गुरुजी ने अन्य कार्य किये, जिसमें उनके द्वारा अपने आध्यात्मिक अनुभव को श्लोकरूप में निबद्ध करने का अविच्छिन्न क्रम भी सम्मिलित था। वर्षों तक मैं उनके चरणों में बैठ कर पढ़ता रहा। प्रायः पाठ पूरा हो जाने के बाद वह नये स्वरचित श्लोक सुनाते, जो उनकी अनुभूति के शब्दमय प्रकाशन होते थे। उन श्लोकों को पढ़ते समय वह अलौकिक आनन्द का अनुभव कराते।

डॉक्टर कमलेश झा उनके सुयोग्य शिष्यों में अन्यतम हैं। गुरुजी से उन्हें न्याय, व्याकरण तथा वेदान्त के अतिरिक्त काश्मीरीय शिवाद्वयवाद की विधिवत् परम्परा मिली है। "पूर्णताप्रत्यभिज्ञा" पर उनका गम्भीर अनुशीलन है "संवित्स्वातन्त्र्यम्" नाम से गुरुजी के उन स्वरचित श्लोक के सङ्ग्रह का प्रथम भाग उनके द्वारा अनूदित हो कर पहली बार प्रकाशित हो रहा है। यह श्लोक आचार्य उत्पलदेव एवम् आचार्य अभिनव गुप्तपाद के स्तोत्रों की भाँति गहन दार्शनिक अभिप्रायों तथा गहरी अनुभूतियों को प्रकाशित करते हैं। काश्मीर के आचार्यों के बीच अपनी अनुभूतियों को श्लोकबद्ध एवं काव्यबद्ध करने की परिपाटी भी थी। यह श्लोक उसी परम्परा के वाहक हैं। डॉक्टर कमलेश झा ने इन श्लोकों का भाव मार्मिक रूप से अपने अनुवाद में उद्घाटित किया है। उनकी पाण्डित्यपूर्ण भूमिका

''पूर्णताप्रत्यभिज्ञा'' के और काश्मीरीय शिवाद्वयवाद के जटिल आयामों को प्रौढ़ शास्त्रीय भाषा में निरूपित करने का श्लाघ्य प्रयास है। इस भूमिका में काश्मीरीय शिवाद्वयवादी दृष्टि से पारम्परिक ''बिम्बप्रतिबिम्बवाद'' के प्रामाणिक स्वरूप को जैसा उन्होंने निरूपित किया है– वह उनके प्रौढ़ पाण्डित्य का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

''संवित्स्वातन्त्र्यम्'' नाम से गुरुजी के सहस्रों श्लोकों में से चुनकर और उन्हें एक विशिष्ट क्रम में रखकर सम्पादित एवम् हिन्दी में अनूदित यह प्रकाशन, हमारे अपने समय में काश्मीरीय शिवाद्वयवादी दर्शन की काशी में प्रतिष्ठित परम्परा का एक अद्भुत दस्तावेज है। मैं डॉक्टर कमलेश झा को इस कार्य के लिये हृदय से साधुवाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि महान् गुरु के अनुग्रह से वह सतत इस प्रकार की रचनाएँ भविष्य में भी देते रहे।

श्रीकमलेशदत्त त्रिपाठी
पूर्व अध्यक्ष, धर्मागम विभाग
पूर्व संकाय प्रमुख, प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
एवम्
निदेशक, कालीदास अकादमी, उज्जैन

आत्माभिव्यक्ति

भारतीय दर्शन में आगम और निगम की परम्परा पुरातन काल से चली आ रही है आगम का अर्थ ही है कि वह आनुभविक ज्ञान जो निरन्तर (परम्परा से) चला आ रहा है अर्थात् वह ज्ञान जो सदा है ही उसे "आगम" कहते हैं। आगम की परम्परा में काश्मीर शैव आगम पूर्ण अद्वैतवादी है किन्तु पूर्ण अद्वैतवादी होते हुए भी शक्ति से युक्त होना ही इसे अन्य निगमनात्मक अद्वैत दर्शन से पृथक् विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है।

काश्मीर शैव दर्शन के "शिव" शब्द में समाविष्ट इकार की मात्रा को शक्ति का सूचक माना गया है, इसके अभाव में "शिव" शव स्वरूप (चैतन्य-विहीन) हो जाएगे। यही चित् शक्ति संविद् भगवती के रूप में भी जानी जाती हैं। ज्ञान की अवस्था में "परमतत्व में" पूर्ण स्वातन्त्र्य इस दर्शन में व्याख्यायित है। संविद् भगवती का यही स्वातन्त्र्य ही सृष्टि क्रम को स्वरूप प्रदान करता है।

गुरुवर "म०म० पं० श्री रामेश्वर झा जी ने" इसी ज्ञान की अवस्था में (जो आनन्द की अवस्था है) संविद् में अभिव्यक्त हजारों-हजार श्लोकों को अपनी सरस्वतीरूपा वैखरी वाणी से अभिव्यक्त एवम् "बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय" इसे लिपिबद्ध किया है। उनकी सशरीर अनुपस्थिति की अवस्था में उनके अनन्य शिष्य परम आदरणीय आचार्य डा० श्री कमलेश झा जी के अथक प्रयास से श्री गुरुजी के संविद् में अभिव्यक्त इन श्लोकों को अलग-अलग भागों में हिन्दी अनुवाद सहित मुद्रित करने का प्रयास हम (जोशी

परिवार वाले) कर रहे हैं इस मुद्रण में आदरणीय आचार्य श्री जीवेश झा जी का अमूल्य योगदान है। संविद् भगवती के स्वातन्त्र्य से अभिव्यक्त इन सूत्रात्मक श्लोकों को ध्यान में रखकर पुस्तक स्वरूप प्रदान करते समय सर्वमान्य स्वीकृति से इस पुस्तक का नामकरण "संवित्स्वातन्त्र्यम्" रखा गया है। आशा है यह पुस्तक सभी साधकों का यथायोग्य मार्गदर्शन करती रहेगी।

उमेश जोशी
एम. ए. (दर्शनशास्त्र)
बी.एच.यू.

श्रीः

भूमिका

निर्धूताखिलमेयमानसरणिः स्वीयस्वभावे स्थितो
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभानजनकं देहञ्च पश्यन्नपि।
बाह्यान्तःपरिभातमेयमखिलं जानन् स्वशक्त्युद्गतं
नित्यानुग्रहवैभवो विजयते रामेश्वरो योगिराट्।।

अनुत्तर शिव अपनी चिति (स्वभाव) के सहारे सदा खेल खेला करता है। वह उपाय एवम् उपेय के रूप में स्वयम् को विभाजित कर स्फुरित होता रहता है। वह हम समस्त चराचर, स्थावर जङ्गम का स्वात्मा है, कोई अन्य नहीं। हम समस्त प्राणी परमार्थतः एकात्मा शिवस्वरूप होने पर भी मायापद में आपाततः देहादिप्रथन से परस्पर विलक्षण विविधरूपों में भासित होते रहते हैं। वह क्रीडाशील शिव हमारे उद्धार की इच्छा से हमारे गुरुरूप में प्रकट होकर अपने पारमार्थिक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा कराकर शिवरूप में हमें प्रतिष्ठित कर देता है।

प्रत्यभिज्ञा का यह सिद्धान्त काश्मीर शैवागम सिद्धान्त के रूप में अत्यन्त प्रतिष्ठित है। सर्वाभ्युपगम से चमत्कृत काश्मीर शैवागम का मूल उत्स शिव-शिवा-संवाद हमें अनादि परम्परा से चमत्कृत करता रहा है। अनुभूति, युक्ति एवम् तर्क की भित्ति पर काश्मीर प्रत्यभिज्ञा-(त्रिक) दर्शन के सिद्धान्त अत्यन्त समादृत हैं।

आचार्य सोमानन्द, अभिनवगुप्त-प्रभृति आचार्यों ने शैवागम के सत्ययुगादि में विद्यमानता को रेखाङ्कित किया है।

स्वच्छन्द, लालुक, बलि, राम, लक्ष्मण, रावण तथा अनेक महर्षियों ने गुरु-परम्परा से इसके अध्ययन एवम् अनुशीलन को अक्षुण्ण रखा था। कलियुग के आरम्भ में शैवागम के मर्मज्ञ ऋषियों के दुर्गम स्थानों में चले जाने पर आगम-परम्परा उच्छिन्न हो गई थी। तदनन्तर भगवान् शंकर ने श्रीकण्ठ रूप में कैलास पर्वत पर ऊर्ध्वरेता दुर्वासा मुनि को मर्त्यमानवोद्धारार्थ जगतीतल में शैवागम-प्रकाशन

हेतु आदेश प्रदान किया। परमेश्वर की आज्ञा से दुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्यसंज्ञक मानसपुत्र को उत्पन्न कर उन्हें शैवागम का उपदेश किया। पिता की भाँति इन्होंने त्र्यम्बकसंज्ञक मानसपुत्र की सृष्टि की और उन्हें शैवागमरहस्य से अवगत कराकर स्वयम् आकाशमण्डल में प्रविष्ट हो गये।

उपर्युक्त क्रम से मानस-पुत्रों के चौदहवें वंशज तक यह परम्परा चलती रही। पन्द्रहवाँ वंशज सङ्गमादित्य ने कथंचित् बहिमुर्खता को प्राप्त कर रूपयौवनसम्पन्ना ब्राह्मणकुमारी से ब्राह्मणविवाहपद्धति द्वारा परिणय कर भ्रमण करते हुए कश्मीर पहुँचे और स्थायीरूप से रहने लगे। वंशपरम्परा में सङ्गमादित्य के पुत्र वर्षादित्य से अरुणादित्य, उनसे आनन्द और उनसे सोमानन्दसंज्ञक पुत्र उत्पन्न हुए। आचार्य सोमानन्द ने शिवदृष्टिसंज्ञक प्रकरणग्रन्थ का निर्माण कर प्रत्यभिज्ञादर्शन-साहित्य को लिखित रूप प्रदान किया। दुर्वासा से प्रचलित शैवागम गुरुपरम्परा की उपर्युक्त कथा का उल्लेख शिवदृष्टि के अन्त में आचार्य सोमानन्दपाद ने किया है। इस प्रकार कलियुग में शैवागम के उन्नीसवें आचार्य सोमानन्दपाद थे। आप श्रीमान् अभिनवगुप्तपाद के परमेष्ठिगुरु थे। गुप्तपाद का स्थितिकाल उनके विमर्शिनीप्रभृति ग्रन्थों के उल्लेख से दशम शताब्दी के उत्तरार्ध तथा एकादश शताब्दी के पूर्वार्ध में माना जाता है। अत: सोमानन्दपाद का स्थितिकाल नवम शताब्दी में माना जाता है।

बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में पाशुपतदर्शन का निराकरण किया है। बादरायण का स्थितिकाल ईशापूर्व चतुर्थ या पंचम शताब्दी में माना जाता है। अत: पाशुपत-संज्ञक द्वैतशैवदर्शन की सत्ता उससे पूर्व ही मानी जायेगी। गुप्तपाद ने श्रीसिद्धातन्त्र का अनुसरण कर बताया है– "कलियुग में त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ ने क्रमश: अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत दर्शनों का एक समय में ही प्रकाशन किया था।

"तेषां क्रमेण तन्मध्ये भ्रष्टं कालान्तराद् यदा।
तदा श्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन्।।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने"।।

पुरातत्त्वसाक्ष्य के आधार पर ५ हजार वर्ष पूर्व हड़प्पा मोहनजोदरो संस्कृति में भी शैवागमपरम्परा के अस्तित्व का निश्चय होता है।

उपर्युक्त त्रिविध शैवागम का संक्षिप्त विवरण निम्नाङ्कित है–

द्वैत शैवागम– शैवद्वैतप्रतिपादक दो दर्शन उपलबध होते हैं– १. पाशुपतदर्शन और २. शैव सिद्धान्तदर्शन।

१. पाशुपतदर्शन– इसमें दश आगमों को आधार माना गया है– १. कामिक २. योगज ३. चिन्त्य ४. मौकुट ५. अंशुमत् ६. दीप्त ७.कारण ८. अजित ९. सूक्ष्म और १०. सहा। इस दर्शन में जगत् के उपादान कारण और निमित्त कारण में परस्पर भेद माना जाता है। जिस प्रकार चेतन कुलाल घटरूप कार्य के प्रति निमित्त कारण मात्र होता है, न कि उपादान कारण, उसी प्रकार प्रभु जगत् के निमित्त कारण हैं, न कि उपादान कारण। एक ही ईश्वर का अधिष्ठाता और अधिष्ठेय होना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। बादरायण ने पत्यधिकरण अथवा पाशुपताधिकरण में इसी दर्शन का निराकरण किया है।

२. शैव सिद्धान्तदर्शन– इस दर्शन में अट्ठाईस आगमों को आधार माना गया है। पूर्वोक्त दश आगमों के अतिरिक्त अट्ठारह आगम निम्नांकित हैं–

१. विजय २. निःश्वास ३. मद्गीत ४. पारमेश्वर ५. मुखबिम्ब ६. सिद्ध ७. सन्तान ८. नारसिंह ९. चन्द्रांशु १०. वीरभद्र १. आग्नेय १२. स्वायम्भुव १३. विसर १४. रौरव १५. विमल १६. किरण १७. ललित और १८. सौरभेय।

इसके प्रमुख आचार्य निम्नांकित हैं–

१. **सद्योज्योति** (९००ई॰) – इनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ हैं–

१. रौरवागमटीका २. स्वायम्भुवटीका ३. तत्त्वत्रयनिर्णय ४. भोगकारिका ५. मोक्षकारिका ६. तत्त्वसंग्रह और ७. परमोक्षनिरासकारिका।

२. **बृहस्पति** (९०० ई॰)– तन्त्रालोक के प्रथम, अष्टम और नवम आह्निकों में इनके मत का प्रतिक्षेप किया गया है। इसी ग्रन्थ में इनकी कृति "शिवतनुशास्त्र" (अनुपलब्ध) का उल्लेख मिलता है।

३. **शङ्करनन्दन** और ४. **देवबल** (९०० ई॰)– जयरथ ने तन्त्रालोकटीका में शंकरनन्दन और देवबल को द्वैतशैवरूप में स्मरण किया है–

"सद्योज्योति-देवबल-शंकरनन्दन-कणभुगादिमतम्।
प्रत्याख्यास्यन्नवममाह्निकं व्याचख्यौ जयरथः"।।

आचार्य गुप्तपाद ने विमर्शिनी में शंकरनन्दन की रचना "प्रज्ञालंकार" का उल्लेख किया है। काश्मीर में सद्योज्योति के अनुयायी इस सिद्धान्त के प्रतिपादक निम्नांकित आचार्य प्रमुख हैं–

१. रामकण्ठ (प्रथम)

इन्होंने स्पन्दकारिका की विवृति तथा सद्वृत्ति (मौलिकग्रन्थ) की रचना की है।

२. श्रीकण्ठ– इनकी एकमात्र रचना "रत्नत्रय" है।

३. नारायणकण्ठ– आप विद्याकण्ठ के शिष्य और प्रथम रामकण्ठ के प्रशिष्य थे। इनकी एकमात्र कृति "मृगेन्द्रतन्त्रवृत्ति" है।

४. रामकण्ठ (द्वितीय)– इनकी एकमात्र कृति "मतङ्गागमटीका" उपलब्ध है।'

शैवद्वैताद्वैतदर्शन— शैवद्वैताद्वैत दर्शन में लकुलीशप्रवर्तित पाशुपतदर्शन प्रमुख है। अनेक साक्ष्य के आधार पर लकुलीशपाशुपतदर्शन का उद्‌गम द्वितीय शताब्दी में माना जाता है। इस दर्शन में पूर्वोक्त अठारह आगमों को आधार माना गया है।

इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. पाशुपतसूत्रम् (लकुलीश— २०० ई०)
२. पंचार्थभाष्यम् (कौण्डिन्य ६०० ई०)
३. यमप्रकरण (विशुद्धमुनि ७०० ई०)
४. आत्मसमप्रण (विशुद्धमुनि ७०० ई०)
५. गणकारिका (हरदत्ताचार्य)

६. गणकारिकाटीका	
७. सत्कार्यविचार	(भासर्वज्ञ १००० ई०)
८. टीकान्तर	
९. संस्कारटीका	
१०. टीकाग्रन्थ	
११. कारणपदार्थ	(अज्ञातकर्त्तृक)
१२. पंचार्थभाष्यदीपिका	
१३. आकर	
१४. आदर्श प्रभृति	

लकुलीशपाशुपतदर्शन में विलक्षण अर्थ में पाँच पदार्थों का अङ्गीकार किया गया है—

१. पति— इसे कारणशब्द से भी जाना जाता है। इस दर्शन में नित्यत्व दो प्रकार का है— १. अनादि अनन्त और २. सादि अनन्त।

पति की नित्यता प्रथम प्रकार की है और मोक्ष की नित्यता

द्वितीय प्रकार की है। पशुओं में भय, अधर्म प्रभृति के उत्पादक होने से यह रुद्र शब्द से भी जाना जाता है। सम्पूर्ण चराचर का आकलन करने से यह काल शब्द से भी अभिहित होता है।

२. **पशु**– इसे कार्य शब्द से भी जाना जाता है। जिस प्रकार सांख्यदर्शन में परिणामवाद को अङ्गीकार किया गया है उस प्रकार इस दर्शन में स्थूलीभवनवाद को अङ्गीकार किया गया है। अर्थात् पतिशक्ति में सूक्ष्मरूप से विद्यमान महदादि-तत्त्व स्थूल होकर ईश्वरेच्छा से उन वस्तुओं से युक्त होते हैं। कार्य पदार्थ के अन्तर्गत तीन अवान्तर पदार्थो को स्वीकारा गया है– १. पशुगुणस्वरूप "विद्या" २. जडतत्त्वरूप "कला" और ३. परिमित प्रमातृस्वरूप "पशु"। उपर्युक्त तीनों कार्य पतिशक्ति में अन्तर्हित रहते हैं।

३. **योग**– इस दर्शन में आत्मा और ईश्वर के संयोगस्वरूप अर्थ में **योग** शब्द का प्रयोग किया जाता है।

"आत्मेश्वरसंयोगो योगः" (पा॰ सू॰ टी॰ –२४)

"चित्तद्वारेणेश्वरसम्बन्धः पुरुषस्य योगः।" (ग॰का॰टी॰ १४)

योग दो प्रकार का होता है:– १. क्रियालक्षण और २. क्रियोपरमलक्षण।

४. **विधि**– धर्म हेतु साधक के द्वारा किये गये व्यापार को विधि शब्द से जाना जाता है। यह दो प्रकार का होता है– प्रधान और गौण।

५. **दुःखान्त**– आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक ध्वंस "दुखान्त" शब्द से अभिहित होता है।

इसके दो भेद हैं:– निरात्मक और सात्मक। निरात्मक दुःखान्त न्याय-वैशेषिकाभिमत मोक्षस्वरूप (दुःखात्यन्तविमोक्षरूप) है। सात्मक दुःखान्त में सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व की प्राप्ति भी मानी जाती है।

शैवाद्वैतदर्शन– शैवागमों को आधार मानकर अद्वैत का प्रतिपादन करनेवाले चार दर्शन हैं–

१. नन्दिकेश्वरदर्शन २. प्रत्यभिज्ञादर्शन ३. क्रमदर्शन और ४. कुलदर्शन।

१. नन्दिकेश्वरदर्शन– अद्वैत शैवदर्शनों में प्रथम स्थान नन्दिकेश्वर दर्शन का है। नन्दिकेश्वर ने 'अइउण्' इत्यादि चतुर्दश माहेश्वरसूत्रों के रहस्य का उपदेश व्याघ्रपादादि को २६ कारिकाओं में किया था जिसमें वैयाकरणों के लिये एकमात्र कारिका है–

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये।।

शेष कारिकाओं में शैवाद्वैत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

महाभाष्यकार पतंजलि, प्रदीपकार कैयट और उद्योतकार नागेशभट्टप्रभृति वैयाकरणों ने श्रीनन्दिकेश्वर को पाणिनि गुरु के रूप में माना है और उनके वचन को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। नन्दिकेश्वरशैवाद्वैत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(क) स्वातन्त्र्यवाद– इस मत में प्रकाशविमर्शरूप शिव विश्वोत्तीर्णावस्था में विमर्श के न्यग्भावित हो जाने से प्रकाशैकघनस्वरूप माना जाता है। यह अक्षरसमाम्नाय के अकार से निर्दिष्ट होता है। प्रकाशाख्य शिव इकार से निर्दिष्ट स्वातन्त्र्यशक्ति की प्रधानता से जड़चेतनरूप प्रपंच का प्रकाशन करता हुआ. क्रमशः उकारपदवाच्य ईश्वरस्वरूप हो जाता है। नन्दिकेश्वर के– **"स्वेच्छया स्वरूपचिद्भित्तौ विश्वमुन्मीलयत्यसौ"**– वाक्य से प्रतिपादित स्वातन्त्र्यवाद का पूर्णरूपेण ग्रहण प्रत्यभिज्ञादर्शन में किया गया है।

(ख) अद्वैतवाद– इकारवाच्य स्वातन्त्र्यशक्ति, चित्कला शब्द

से भी जानी जाती है। स्वातन्त्र्य और प्रकाशाख्य शिव में लेशमात्र भी भेद नहीं माना जाता है। वाणी और अर्थ के समान ये परस्पर अभिन्न हैं:–

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते।
चान्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद् यथा वागर्थयोरिव।।

३. **प्रत्ययवाद**– इस दर्शन में समस्त विश्व मूलरूप में परातत्त्व में स्थित रहते हैं। फलत: पश्यन्ती आदि के क्रम से प्रसृत वाच्य वाचकात्मक विश्व प्रतीतिमात्र है। **"सर्वं परात्मकं पूर्वज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्।"**

४. **षट्त्रिंशत्तत्त्व**– इस दर्शन में छत्तीस तत्वों को अंगीकार किया गया है– १. शिव २. शक्ति ३. ईश्वर ४–८. पंचतन्मात्र ९–१३. पंचभूत १४–१८. पंचज्ञानेन्द्रिय १९–२३. पंचकर्मेन्द्रिय २४–२८. पंचप्राण २९. प्रकृति ३०. पुरुष ३०–३१. गुणत्रय ३४–३६. अन्त:करणत्रय।

५. **परमशिव**– यह उपर्युक्त छत्तीस तत्त्वों से उत्तीर्ण है। इसी को अभिनवगुप्तपाद ने ३७वाँ तत्त्व स्वीकारा है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन– ईश्वरोच्चरित वेद के समान शैवागम भी परमेश्वरप्रोक्त और अनादि हैं। कारणविशेष से कालविशेष में परम्परा के उच्छिन्न हो जाने पर कृपालु परमेश्वर द्वारा पुन: परम्परा का प्रचालन किया जाता है। यह पहले ही बताया गया है– कलियुग में शैवागमपरम्परा के उच्छिन्न हो जाने पर भगवान् शंकर ने दुर्वासा को आदेश देकर परम्परा का प्रचलन कर उसका विस्तार किया। श्रीमान् अभिनवगुप्तपाद के निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध होता है– उन्होंने १०१५ ई॰ में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी ग्रन्थ का समापन किया था–

इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगाब्दौ,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति विहितबोधामीश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः।।

इस आधार पर दशम शताब्दी के मध्य में गुप्तपाद का जन्मकाल माना जाता है। इनके परमेष्ठिगुरु होने से आचार्यसोमानन्द का स्थितिकाल नवम शताब्दी में माना जाता है। यतः सोमानन्द कलियुग में अद्वैतशैवागम के प्रथम प्रवर्तक के उन्नीसवें वंशज थे अतः इसका मूलरूप चतुर्थ शताब्दी में विद्यमान था। अद्वैतशैव दर्शनों में चौंसठ आगमों को आधार माना गया है। नवम शताब्दी में आचार्य सोमानन्द ने शिवदृष्टि की रचना की। इसमें उन्होंने अनुपाय संज्ञक प्रत्यभिज्ञारूप मोक्षोपाय का निरूपण किया है। इनसे पूर्व मोक्ष के तीन ही उपाय बताये जाते थे– आणव, शाक्त और शाम्भव। अतः प्रत्यभिज्ञादर्शन का सूत्रपात नवम शताब्दी में माना जाता है। आचार्य सोमानन्द के शिष्य आचार्य उत्पलदेव ने शिवदृष्टि को उपजीव्य मानकर ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, इसकी टीका "वृत्ति" और इसकी टीका "विवृति" ग्रन्थों की रचना की। तदनन्तर अभिनवगुप्तपाद ने उपर्युक्त कारिका और विवृति की "विमर्शिनी" संज्ञक दो टीकाग्रन्थों की रचना की। शिवदृष्टिनामक प्रकरणग्रन्थ के उपजीवक उपर्युक्त (कारिकादिविमर्शिनीपर्यन्त) ग्रन्थपंचक को सामान्यतया प्रत्यभिज्ञाशास्त्र माना जाता है–

"सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लध्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपंचकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः।।

गुप्तपाद के तन्त्रालोक में अद्वैतप्रतिपादक तीन शैवदर्शन– "प्रत्यभिज्ञा", "क्रम" और "कुल" के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया

गया है। काश्मीर की धरती एवम् जलवायु का अद्भुत चमत्कार रहा है। विशेष रूप में ईशापूर्व चतुर्थशताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक **काश्मीर** देदीप्यमान शारदापीठ रहा है। इस अवधि में वहाँ विविध आस्तिक–नास्तिक दर्शन, व्याकरण, साहित्य किंवा समस्त संस्कृतवाङ्मय के पाण्डित्य, शास्त्रार्थ तथा ग्रन्थनिर्माण की विशेषता भारत ही नहीं, विश्व के भूभागों से काश्मीर को उत्कृष्ट सिद्ध करती है। अभिनवगुप्तपाद की सर्वतोमुखी प्रतिभा से न केवल प्रत्यभिज्ञादर्शन अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मय झङ्कृत हो उठा। उनके कथामुखतिलक में न्यायदर्शनाभिमत सोलह पदार्थो का निरूपण न्यायदर्शन के रहस्य को पाठक के मनोमुकुर में स्पष्टतया प्रतिबिम्बित कर देता है। इनके मालिनीविजयवार्तिक में वैशेषिक सम्मत समवायादि तीन पदार्थो की आलोचना दार्शनिकों को चकित कर देती है। इनके ध्वन्यालोकलोचन में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद की आलोचना विश्ववाङ्मय में अपनी उपमा नहीं रखती। नाट्यशास्त्र की **भारती** में साहित्य के सारे लक्षणग्रन्थ गतार्थ हो जाते हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन का सर्वाङ्गीण विकास इन्हीं के अनेक ग्रन्थरत्नों से हुआ है। यदि इनके ग्रन्थ को निकाल दिया जाय तो न केवल प्रत्यभिज्ञादर्शन अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मय निष्प्राणशरीर के समान निःसार प्रतीत होने लगेगा।

सूक्ष्मतम अनुभवों के आकलन एवम् उपस्थापन की शैली अन्य चिन्तकों से इन्हें पृथक् एवम् सर्वोच्च सिद्ध कर देती है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन तो काश्मीर की बपौती ही रही है। वहाँ आज से २० वर्ष पूर्व तक ईश्वराश्रम गुप्तगङ्गा में ईश्वरस्वरूप साक्षात् शिव श्रीमान् लक्ष्मणजूदेव अपने शिष्य शिष्याओं के साथ पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा से पात्रतासम्पन्न शिष्यों को शिवरूपता प्रदान करते रहे हैं।

स्वातन्त्र्यवाद– प्रत्यभिज्ञादर्शन का उत्तुङ्ग अद्वैतवाद, स्वातन्त्र्यभित्ति पर स्थिर है। इस दर्शन की मान्यता है– प्रभु स्वयमेव

स्वाभिन्नस्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा सतत समस्त विश्व की सृष्टि-स्थिति-ध्वंस-रूप क्रीड़ा में संलग्न है–

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः।।

प्रभु की स्वातन्त्र्यशक्ति से ही पशुरूपता और शिवरूपता की प्राप्ति क्षणभर में इच्छा मात्र से होती है। परमार्थतः बन्ध और मोक्ष का पृथक् अस्तित्व नहीं है। क्रीड़ाशील परमेश्वर स्वातन्त्र्यशक्ति से बन्धमोक्षचित्र विचित्र क्रीड़ा से विलसित होकर पशुता और मुक्तता से युक्त होता है।

"स्वाभाविकी स्फुरत्ता विमर्शरूपास्य विद्यते शक्तिः।
सैव चराचरमखिलं जनयति जगदेतदपि च संहरति।।
(सौभाग्यसुखोदय)

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्त्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया।
मिथ्या मोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित् त्यज मा गृहाण विरम स्वस्थो यथावस्थितः"।।

अतः प्रत्यभिज्ञादर्शन को "स्वातन्त्र्यवाद" शब्द से जाना जाता है। यह संविदद्वयवाद, आभासवाद, यथार्थप्रत्ययवाद, काश्मीरशैवाद्वैत, परमाद्वैत प्रभृति संज्ञाओं से भी अभिहित होता है। परस्पर अत्यन्त भिन्नरूपों में भासमान समस्त भुवन, इनके प्रमाताप्रमेय, कार्यकारणभाव और क्रियाकारकभाव-प्रभृति वैचित्र्य का वास्तविक तत्त्व स्वात्ममहेश्वर ही है। यह निरन्तर अहम्रूप में प्रकाशमान है, नित्य है अतएव जड़विलक्षण है। स्वात्मा इदम्, इत्थम् इत्यादि परिच्छेदन से वर्जित है।

प्रकाशशील स्वात्मा से ही विश्व प्रकाशमान होता है। विमर्शशील स्वात्मा विश्वरूप और विश्वोत्तीर्ण भी है। यह अपने से अनतिरिक्त विश्व को अतिरिक्त सा भासित करता है। स्वातन्त्र्यवाद में लौकिक प्रतिभास की तरह विश्वोत्तीर्ण प्रकाश भी विमर्शरूप ही है। इसे चैतन्य, स्वातन्त्र्य, स्पन्द, विमर्श, सत्ता, स्फुरत्ता, ऐश्वर्य प्रभृति शब्दों से भी अभिहित किया जाता है। वेदान्ती के मत में यह चैतन्य स्वव्यवहार में संविदन्तरानपेक्षत्वरूप में पर्यवसन्न होने से स्वप्रकाशचिन्मात्र है। शैवागम में स्वात्मक और स्वात्मक विश्वाकार द्विविधभान में इतरानपेक्षत्वरूप में चैतन्य को स्वीकारा गया है। अतएव स्वात्मक वेद्यांश की प्राधान्यविवक्षा में विमर्शशब्द से अभिधान होता है और वेदकांश की प्राधान्यविवक्षा में प्रकाशशब्द से अभिधान होता है। घटपटादि प्रपंचरूपों में प्रकाशित होना ही किंचिच्चलनरूप स्पन्द का अभिप्रेत अर्थ है। इसे अनन्यस्फुरण शब्द से भी जाना जाता है। तन्त्रालोककार ने इसका विशद निरूपण किया है जिसे निम्नलिखित कारिका में संगृहीत किया गया है।

किंचिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्।
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना।।

सम्पूर्ण विश्व स्वातन्त्र्य के गर्भ में स्थित है अत एव चिद्रूप है। अर्थात् अनुत्तर स्वात्मा, स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा समस्त प्रपंचरूपों में भासित होता है। फलत: इस दर्शन में परमेश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य प्रभृति दोषों का आपादन नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रभु स्वयमेव पुण्यापुण्य, सुखित्वदु:खित्व प्रभृति रूपों में स्फुरणशील है।

अब यहाँ आशङ्का होती है– प्रभु सुखित्वादि रूप में ही क्यों नहीं भासित होते? ऐसा स्वातन्त्र्य किस काम का? जो दु:खित्वादि रूप में भासित करें। इसका समाधान है– प्रभु यदि सुखित्वादि

नियतरूप में ही भासमान हो तो यह स्वातन्त्र्य नहीं प्रत्युत उसके विपरीत परिच्छेदन होगा। इतना ही नहीं– दु:खस्वरूप के अनुभव विना सुखस्वरूप का विवेचन ही नहीं हो सकता। फलत: यदि प्रभु सुखरूप में ही भासित होते तो दु:खसापेक्ष सुख का अवगम ही नहीं होता और न उपर्युक्त प्रश्न सम्भव हो सकता। सुखदु:ख, पुण्यापुण्य आदि द्वैतरूप में भान होने पर ही सुखादिस्वरूप का विवेचन उपपन्न होता है। अत: द्वन्द्वरूप में भान होना सुखप्रतीतिकर ही है। स्वातन्त्र्य अर्थात् परस्परविरुद्ध विभिन्न पदार्थों के रूप में भासित होना प्रभु का स्वभाव है अत: इसमें प्रश्न का अवसर ही नहीं है। क्योंकि स्वभाव में यह ऐसा कैसे? क्यों? आदि अनुयोग नहीं किया जाता है। अतएव यह भी शङ्का समाहित हो जाती है– प्रभु की विश्वाकारता मानी जाय तो वह सर्वदा सर्वरूप में क्यों नहीं भासित होते? प्रक्रियादशा में स्वातन्त्र्य का विभाजन तीन रूपों में किया जाता है– इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। समस्त जागतिक व्यवहार का अन्तर्भाव इन तीन शक्तियों में हो जाता है।

यद्यपि तदभिन्नाभिन्नन्याय से प्रत्येक इच्छादिशक्ति सर्वशक्तिरूप है तथापि गौणप्रधानभाव की विवक्षा से शक्तित्रय का व्यवहार होता है।

त्रिपुरा त्रिविधा देवी ब्रह्मविष्णवीशरूपिणी।
ज्ञानशक्ति: क्रियाशक्तिरिच्छाशक्यात्मिका प्रिये!।। (वामकेश्वर तन्त्र)

इच्छाशक्ति– यह परास्वरूप है, अभेदभान में प्रयोजक है और अकाररूप मातृका से व्यङ्ग्य होने से अनुत्तरस्वरूप है।

ज्ञानशक्ति– यह परापरस्वरूप है, भेदाभेदभान में प्रयोजक है और इकाररूप मातृका से व्यङ्ग्य होने से इच्छास्वरूप है। अनुभव, स्मृति और अपोहन इसकी अवान्तर शक्ति है। (स तपोऽतप्यत इत्यादि श्रुतिसिद्ध आलोचन भी ज्ञानशक्तिस्वरूप ही है।) अयं घट: इत्यादि

ज्ञानशक्ति है। घटमहमज्ञासिषम् इत्यादि स्मृतिशक्ति है। अभावात्मक व्यावृत्ति का अवगाहन करने वाली अपोहनशक्ति है। इसे विकल्पशब्द से भी कहा जाता है।

"एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्।
ज्ञानानामनुसन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः।।
न चेदन्तःकृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्"।।

क्रियाशक्ति— यह अपरास्वरूप है, भेदभान में प्रयोजक है और उकाररूप मातृका से व्यङ्ग्य होने से उन्मेषस्वरूप है। इच्छाशक्ति का "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" ज्ञानशक्ति का "एकोहं बहु स्याम" और क्रियाशक्ति का "सच्च त्यच्चाभवत्" श्रुतिवाक्यों से क्रमशः अवगाहन होता है।

इस शक्तित्रय को शिव, शक्ति और नर (पुरुष) तत्त्वत्रय रूप में स्वीकारा गया है। इनका क्रमिक समीक्षण उत्तम पुरुष (अहं भवामि) मध्यम पुरुष (त्वं भवसि) और प्रथम पुरुष (इदं भवति) के रूप में होता है। प्रथमतः परमेश्वर की तटस्थता होने से प्रथमपुरुष होता है। उपासनादशा में त्वम्रूप में भासित होने से मध्यम्पुरुष और तत्त्ववेदन वेला में अहम्रूप में भासित होने से उत्तम पुरुष होता है। पूर्णाहन्ताशील शिव परतत्त्व है। शक्तितत्त्व अक्षर और नरतत्त्व क्षर कहलाता है। घटादि का अन्तर्भाव नरतत्त्व में होता है। चिद्रूपता के इदन्तामय निमज्जन हो जाने से इनमें जड़रूपता का व्यवहार होता है।

भगवान् ने गीता में कहा है—

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। (१५.१८)

उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत:।" (१५.१७)

प्रमुखतया नर, शक्ति और शिव तीन तत्त्वों को स्वीकारने से प्रत्यभिज्ञादर्शन को त्रिकदर्शन शब्द से भी जाना जाता है। इसका दूसरा कारण बताया जाता है– क्रियाप्रधान सिद्धातन्त्र, ज्ञानप्रधान नामकतन्त्र और उभयप्रधान मालिनीतन्त्र के अभ्युपगम करने से इसको त्रिकदर्शन संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन के ऊपर आक्षेप किया जाता है कि दृश्य जगत् को सोपादान माना जाय अथवा निरुपादान। प्रथम पक्ष में परमेश्वर को जगन्निर्माण हेतु स्वातिरिक्त उपादान की सत्ता मानने से अद्वैतभङ्ग की आपत्ति प्रस्तुत होती है। परमेश्वर स्वयमेव उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें विकारित्व की प्रसक्ति होगी। द्वितीय पक्ष में परमेश्वर स्वयमेव स्वाभिन्न स्वातन्त्र्यशक्ति से जगन्निर्माण करता है। फलत: अद्वैतसिद्धान्त अक्षुण्ण रहता है। किन्तु इस पक्ष में दूसरी आपत्ति उठ खड़ी होती है। सामान्यत: यह व्याप्ति (नियम) मानी जाती है– समस्त भावकार्य सोपादानक होते हैं। यथा– घट, पट आदि भावकार्य कपाल, तन्तु प्रभृति उपादान से उत्पन्न होते हैं। प्रकृत में भावात्मक जगत् का अद्वैतभङ्ग के भय से उपादान नहीं मानने से उपर्युक्त व्याप्ति का भङ्ग प्रसक्त होगा। इस प्रकार दोनों पक्षों में दोष से निस्तार सम्भव नहीं है। इस आक्षेप का समाधान स्वातन्त्र्यवाद में इस प्रकार से किया जाता है।

कार्यकारणभाव के दो भेद हैं– पारमार्थिक और कल्पित। परमेश्वर स्वातन्त्र्य से उन-उन रूपों में भासित होता है। यह पारमार्थिक कार्यकारणभाव का विश्लेषण है। बीजाङ्कुरन्याय की लौकिक दृष्टि से द्वितीय (कल्पित) कार्यकारणभाव का अङ्गीकार किया जाता है। इसकी उपपत्ति के लिये प्रकृत्यादि तत्त्वसमूह की परिकल्पना की जाती है। कल्पित कार्यकारणभाव में भी बीजरूपेण प्रकाशमान परमेश्वर अङ्कुररूप से भासित होता है– इस प्रकार का पारमार्थिक कार्यकारणभाव अनुगत

ही है। कुलालादि के परमार्थत: शिवाभिन्न होने से घटादिकार्यो में भी शिव की कर्त्तृता अक्षुण्ण ही है। इस प्रकार पारमार्थिक कार्यकारणभाव ही मौलिक है। अत: यह पक्ष दृढ होता है कि निरुपादान परमेश्वर जगन्निर्माण करता है। अतएव उपर्युक्त व्याप्तिभङ्ग की आपत्ति बनी रह जाती है। स्वातन्त्र्यवाद में इसे इष्टापति के रूप में स्वीकारा गया है। क्योंकि योगी अपनी इच्छा से उपादानोपकरणादि के विना ही घटादि का निर्माण करता है। इस प्रकार भावकार्यो में सोपादानत्वनियम में व्यभिचार होने से व्याप्ति खण्डित होती है। अत: उसके भङ्ग की आपत्ति समुचित नहीं है। आचार्य उत्पलदेव ने उपर्युक्त दृष्टान्त से ही जगदुत्पत्ति में निरुपादान परमेश्वर को कारण बताया है।

"चिदात्मैव हि देवोऽन्त: स्थितमिच्छावशाद् बहि:।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्"।।

अनन्तशक्तिसम्पन्न परमेश्वर से उत्प्रेक्षित विश्वप्रपंच स्वात्ममहेश्वर से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है–

"ईश्वरोऽनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्षक:।
स्वेच्छामात्रेण सकलं सृजत्यवति हन्ति च।।
प्रकाशमानं न पृथक्प्रकाशात् स चप्रकाशो न पृथग् विमर्शात्"।।

प्रकाशाख्य महेश्वर संविद्रूप है। सम्पूर्ण विश्व संविद्दर्पण में प्रतिबिम्बित है। यथा– निर्मल स्फटिकमणि में घट पट प्रभृति विभिन्न उपाधियों की प्रतीति होती है, किन्तु "यह स्फटिकमणि है"– ऐसी अबाधित प्रतीति निरन्तर होती रहती है। अत: मणि की यही स्वच्छता या निर्मलता है कि वह अपने उपाधियों के विभिन्न आकारों को धारण करने के साथ ही अपने स्वरूप (स्फटिकमणि) में प्रथित होता है। उपर्युक्त प्रकार से परमेश्वर स्वयम् अपनी शक्ति से स्वच्छतम स्वात्मदर्पण में देव, मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति स्वोत्प्रेक्षित पदार्थों को

अभिन्नरूप से धारण कर विश्वरूप में भासमान होता है। और साथ ही विश्वोत्तीर्ण होने से पराहम्परामर्श से चमत्कृत होने से नानारूपों में भासमान अद्वैत स्वात्मा का परामर्शन करता है।

प्रतिबिम्बवाद के सन्दर्भ में यह आक्षेप प्रस्तुत किया जाता है संविद्रूप महेश्वर विचित्र तनु, करण, भुवन रूपों में भासित होता है– ऐसा अङ्गीकार करने पर तनु, करण, भुवनादि की उत्पत्ति और नाश होने पर महेश्वर ही उत्पादविनाशशील होगा। एवम् प्रत्येक प्रमाता के **जायते अस्ति**– इत्यादि भावविकारों से महेश्वर ही व्यवच्छिन्न होगा। इतना ही नहीं, पुण्यपापात्मक कर्म के विपाक स्वरूप स्वर्ग-नरकादिभोग की प्राप्ति महेश्वर को होगी। अतः उपर्युक्त प्रतिबिम्बवाद उपयुक्त नहीं है।

इस आक्षेप का समाधान युक्ति और तर्कों के द्वारा दृष्टान्तमुखेन आचार्यों ने किया है। जिस प्रकार आकाशस्थ चन्द्रबिम्ब वस्तुस्थित्या अचलत्तात्मक है। किन्तु चंचल जलप्रवाह में प्रतिबिम्बित चन्द्र, चंचल प्रतीत होता है। एवम् जल के भेदक देश और काल गगनस्थचन्द्रबिम्ब के भेदक नहीं हो सकते। और भी, अमल गङ्गाजल अथवा दुर्गन्धिपूर्ण कर्दम में प्रतिबिम्बित होने पर भी गगनस्थ बिम्बचन्द्र के स्वरूप में लेशमात्र भी परिवर्तन नहीं होता है। उसी प्रकार स्वात्मदर्पण में प्रतिबिम्बित तनु करण भुवनादि के उत्पत्ति और विनाश से, प्रमाताओं के षड्विकार व्यवच्छेदन से और स्वर्ग-नरकादि भोग से स्वात्ममहेश्वर लेशमात्र भी सम्बद्ध नहीं होते। महेश्वरनिर्मित तनु करण भुवनादि की उत्पत्ति और विनाश से मायामोहितों का व्यवहार होता है–

"स्वात्मा उत्पन्न होता है अथवा नष्ट होता है।" वस्तुस्थित्या स्वात्मा न उत्पन्न होता और न नष्ट होता है। भगवान् ने गीता में कहा है–

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" (२।२०)

प्रत्यभिज्ञादर्शन में समस्त विश्व को संविद्दर्पण में प्रतिबिम्बित माना गया है। यहाँ एक आक्षेप उपस्थित होता है– चिद्दर्पण में प्रतिबिम्बित विश्व का बिम्ब है या नहीं? प्रथम पक्ष में चेतन से पृथक् बिम्ब के अङ्गीकार होने से द्वैत की आपत्ति होती है। द्वितीय पक्ष में बिम्ब को नहीं मानने से द्वैतापत्ति का निवारण होता है, किन्तु बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब की उपपत्ति सम्भव नहीं हो सकती। आशय यह है कि बिम्बरूप कारण से प्रतिबिम्बरूप कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण के विना कार्य की उत्पत्ति मानी नहीं जा सकती। अतः बिम्ब का अभ्युपगम करना होगा। और ऐसा करने से द्वैतापत्ति बनी रहेगी। इसका समाधान विलक्षण रूप में किया गया है– किसी भी कार्य के कारणों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है– समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण। उदाहरणार्थ– घटकार्य के प्रति कपाल समवायिकारण है, कपालद्वयसंयोग असमवायिकारण है और दण्ड, चक्र, कुलाल प्रभृति निमित्तकारण है। इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि समवायिकारण केवल द्रव्य ही होता है और असमवायिकारण गुण अथवा कर्म ही होता है। निमित्तकारण के लिये कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं होता है। प्रतिबिम्बरूप कार्य के प्रति बिम्ब समवायिकारण नहीं होता प्रत्युत निमित्तकारण होता है। किसी भी कार्य के लिये समवायिकारण नियत होता है अर्थात् समवायिकारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु निमित्तकारण नियत नहीं होता। उदाहरण से इसे स्पष्टरूप में समझा जा सकता है– घटरूप कार्य के प्रति कपाल समवायिकारण है अतः उसके बिना घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः समवायिकारण का रहना अनिवार्य होता है। इसके

विपरीत घटकार्य के प्रति दण्ड निमित्तकारण है, क्योंकि दण्ड द्वारा चक्र में भ्रमि पैदा होती है तदनन्तर घट की उत्पत्ति होती है। किन्तु चक्र में हाथ द्वारा भ्रमि पैदा करने से भी घट की उत्पत्ति हो सकती है। अतः दण्ड की जगह हस्त भी निमित्तकारण बन सकता है। फलतः यह सिद्ध होता है– निमित्तकारण नियत नहीं होता है। प्रकृत में संविद्दर्पण में प्रतिबिम्बरूप विश्व का निमित्तकारण होने से **बिम्ब** का नियत रहना अनिवार्य नहीं है। अतः बिम्ब के विना प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति हो सकती है। अब यह आशङ्का होती है– बिम्ब के विना प्रतिबिम्ब कैसे उत्पन्न होगा? लोक में देखा जाता है– बाह्य देवदत्तमुखरूप बिम्ब से दर्पणस्थ मुखप्रतिबिम्ब सापेक्ष होता है।

इसका समाधान है– विश्वप्रतिबिम्ब में प्रतिबिम्ब की परिभाषा समन्वित होती है। तथाहि– जो स्वतन्त्रतया अन्य से मिश्रित हुए बिना स्वयमेव भासित हो वह **बिम्ब** कहलाता है। इसके विपरीत जो अन्य से व्यामिश्रित होकर (अतएव) पराधीन रूप में भासित होता है वह प्रतिबिम्ब कहलाता है। अतः विश्ववेद्य संविल्लग्न होकर भासित होता है, स्वतः भासित नहीं होता। अतः इसकी प्रतिबिम्बरूपता सर्वथा उत्पन्न होती है। अब यह विचारणीय है– घट की उत्पत्ति, दण्ड की जगह हस्त से भ्रमि करने के अनन्तर होती है। अतः घट का निमित्तकारण दण्ड की जगह हस्त होता है। एवम् आदर्शादि में मुखादिप्रतिबिम्ब का निमित्तकारण बाह्य मुखादिबिम्ब होता है। चिद्दर्पण में भासमान विश्वप्रतिबिम्ब का बिम्बस्थानीय निमित्तकारण कौन हो सकता है?

शैवागम में विस्तारपूर्वक इसका विवेचन किया गया है। तथाहि-एक जड़ वस्तु में दूसरे जड़वस्तु के प्रतिबिम्बन में बिम्बरूप निमित्तकारण की अपेक्षा होती है। यथा– दर्पण में होनेवाले मुखादि–प्रतिबिम्बन में मुखादिबिम्ब की अनिवार्यता है। इसके

विपरीत चेतन में चेतनाभिन्न प्रतिबिम्बन होने में स्वातन्त्र्यशक्ति निमित्तकारण होती है। अत: चिद्दर्पण में चिदभिन्नविश्वप्रतिबिम्बन होने में संविद्रूप स्वातन्त्र्यशक्ति, बिम्बस्थानीय निमित्तकारण है। जिस प्रकार दर्पण में आग पानी आदि परस्परविरोधी पदार्थों का एक साथ प्रतिबिम्बन होता है और उनमें परस्पर मिश्रण नहीं होता है। उसी प्रकार चिद्दप्रण में अत्यन्त विलक्षण परस्परविरोधी अहिनकुल आदि का युगपत्प्रतिबिम्बन होता है और उसमें परस्परमिश्रण नहीं होता है।

"भावजातमिदं सर्वं चिद्व्योम्नि प्रतिबिम्बितम्।
केवलं स्वीयशक्त्यैव बिम्बाभावेपि दृश्यते।।
पू.प्र.– १–३३०।।

भावा भान्ति यथादर्शे निर्मलेऽपि विरोधिन:।
अनामिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाथे विश्वसंचया:।। १–३३९।।"

स्वात्ममहेश्वर कर्त्तुम्, अकर्त्तुम्, अन्यथाकर्त्तुम् सर्वथा समर्थ है। यह ऐश्वर्यादिसम्पन्न है तथा विमर्शशील होने से स्वयम् स्व में, परस्पर अत्यन्त विलक्षण विश्ववेद्य को भासित करता है और स्व से अपृथग्भूत विश्व को पृथक् रूप में भासित करता है।

"अतो विमर्शशक्त्यैव स्वस्मिन्नेव स्वयम्प्रभु:।
भासयत्यखिलं विश्वं पृथग्भूतमिवापृथक्।।३३४।।"

परमेश्वरस्वातन्त्र्य की यह अद्भुत महिमा है– वह चेतन को जड़रूप में भासित करती है, अद्वैत में नाना का भासन करती है पुनश्च नानारूप में भासित को एक (अद्वैत) रूप में भासित करती है।

अभिन्नं भिन्नयन्तीयमेकयन्ती बहून् पुन:।
जडयन्ती चिदात्मानं शक्ति: स्वातन्त्र्यलक्षणा।। पू.प्र.१–३४६।।

जिस रूप रसादि का नैर्मल्य जिस नेत्र दर्पणादि में रहता है उसी

का प्रतिबिम्ब उसमें होता है। चक्षु में रूप निर्मल है अत: उसमें रूप का प्रतिबिम्बन होता है। एवम् दन्तोदक में रस का, जननेन्द्रिय में स्पर्श का, घ्राण में गन्ध का और कूपादि में शब्द का प्रतिबिम्बन होता है। दर्पण में रूपातिरिक्त स्पर्शगुरुत्वादि का नैर्मल्य नहीं है अत: उसका प्रतिबिम्बन नहीं होता है। अतएव दर्पण—प्रतिबिम्बित कान्त का कुचकलशों से स्पर्श करती हुई कोई कामिनी स्पर्शसुखानुभूति की तृप्ति को नहीं पा सकती।

"दप्रणे रूपसंस्थानं केवलं प्रतिबिम्बते।
न तु स्पर्शगुरुत्वादि तच्च तत्रास्त्यनिर्मलम्॥
दर्पणं सुन्दरं दृष्ट्वा कान्तेन प्रतिबिम्बितम्।
स्पृशन्ती कुचकुम्भाभ्यां न तृप्येत् कापि कामिनी॥"

पू.प्र. १।३५३—३५४

स्वात्ममहेश्वर विलक्षण दर्पण है। यह सर्वविध नैर्मल्य से युक्त है अत: समस्त वेद्य इसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। दर्पणस्फटिकादि जड़वस्तु विमर्शशून्य होने से प्रतिभासित रूपादि का आकलन नहीं करता। इसके विपरीत संविद्दर्पण स्व में स्वविमर्श द्वारा प्रतिभासित विश्ववैचित्र्य का प्रत्यवमर्श करता है।

"नैर्मल्यं यस्य यत्रास्ति तच्च तत्रावभासते।
सर्वनैर्मल्यसम्पन्ने चिद्रूपे सर्वमेव हि॥
बोध: स्वीयविमर्शेन भासितं स्वात्मनात्मनि।
परामृशति वैचित्र्यं न पुनर्मुकुरो जड:॥"

पू.प्र.१—३५५—३५६

मल— माया परमेश्वर की परमप्रिय शक्ति है। यह स्वरूप का गोपन कर पशु में महेश्वर का भेद प्रदर्शित करती है और मल का आधान करती

है। अनादिमायामूलक मल अनादि है फलतः पशु भी अनादि है।

"स्वरूपं गोपयन्तीयं माया भेदं शिवात् पशोः।
दर्शयन्ती सुषुप्तत्वमिवाधत्ते पशौ मलम्।।"

कार्यभेद से मल तीन प्रकार का होता है– आणव, मायिक और कार्म।

१. **आणवमल**– षड्विध कंचुकों से पाशित होकर शिव नित्यपूर्णता के विस्मरण से पशु बन जाता है। फलतः स्व में अपूर्णता का अभिमान करता है। यह अपूर्णत्वाभिमान ही आणवमल है। इसके दो भेद होते हैं– स्वातन्त्र्यहानि और स्वातन्त्र्याज्ञान।

अपूर्णत्वाभिमननं मलमाणवसंज्ञकम्।
स्वातन्त्र्यहानिरूपं तत् स्वातन्त्र्याज्ञानमित्यपि।।

बोधस्वरूप का मुख्य स्वभाव अहम्परामर्श है। इसे कर्त्तृताशब्द से भी जाना जाता है। यद्यपि मुख्य स्वभाव का वियोजन असम्भव है, तथापि दुर्घटकारित्वशील शक्तिद्वारा "परस्परभिन्नरूपों में भासित होऊँ"– इस इच्छा से प्रभु स्वातन्त्र्य हानि द्वारा पूर्णता का परित्याग कर समल हो जाता है। फलतः विज्ञानाकलरूपता को प्राप्त होता है। स्वात्मतिरोधान की स्वेच्छा, मल और कर्म में हेतु है। नटराज महेश्वर, इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों से परिपूर्ण है। स्वरूपाच्छादन में प्रवीण प्रभु स्वातन्त्र्येण विभिन्नरूपों में क्रीड़ा करता है। माया द्वारा पूर्ण स्वात्मा का अपूर्णतया भान होता है जिसे तिरोधानशब्द से जाना जाता है। यही तिरोधान भिन्नरूप से पूर्त्ति हेतु स्पृहारूपता को प्राप्त होता है। फलतः सकृत्प्रकाशमान स्वात्मा में साकाङ्क्षता होती है जो अपूर्णम्मन्यता शब्द से अभिहित होती है। यही स्वरूप की अख्याति है। इसे अज्ञान और संकुचितज्ञान शब्दों से भी जाना जाता है। अपूर्णम्मन्यता ही प्रभु में जीवरूपता का आधान करती है।

"अपूर्णम्मन्यत्वरूपाणवमलविशिष्टत्वं पशुत्वम्"।

"दृक्क्रियापरिपूर्णोयमेक एवाप्यनेक।

संवृत्तोऽणुः समाच्छाद्य स्वस्वरूपंस्वभावतः।।" पू.प्र. ४४३।।

२. मायिकमल– आणवमल के द्वारा स्वरूप के संकुचित हो जाने पर स्व से भिन्न विचित्र शरीर, इन्द्रिय, भुवनादि का प्रथन होता है। इसको मायीयमल अथवा संसारशब्द से जाना जाता है। माया द्वारा अन्धा बनाया गया जीव स्व से भिन्न वेद्य पदार्थो को देखता है। अतः पाशबद्ध होकर पंचविध क्लेश से सम्पृक्त होता है।

वृत्ते स्वरूपसंकोचे आणवेन मलेन वै।

भिन्नस्य प्रथनं यत् तन्मायीयमिति संज्ञितम्।। पू. प्र. २।४७३

३. कार्ममल– परस्परभिन्नरूपों में भासित होने वाले अबोधरूप देह, प्राण, बुद्धिप्रभृति कर्त्ता में धर्माधर्म की वासना उत्पन्न होती है। यह वासना कार्ममल कहलाती है जो सुख दुःखादि का जनक है। कार्ममल, चतुर्दश प्रकार के सृष्टि में कारण माना जाता है। अष्टविध देवयोनि, एक मानुषयोनि और पंचविध तिर्यग्योनि के योग से चौदह प्रकार की सृष्टि है जो एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण है। कार्ममल मायापर्यन्त समस्त अध्वाओं में व्याप्त रहता है।

स्वातन्त्र्याज्ञानरूप आणवमल से कार्ममल की उत्पत्ति होती है।

सुखदुःखादिजनकधर्माधर्मोभयोरपि।

वासनैवोच्यते कार्मं मलं संसारकारणम्।। २–४७५

अस्य कार्ममलस्यापि मायान्ताध्वविसारिणः।

प्रधानं कारणं प्रोक्तमज्ञानात्माणवो मलः।। २–४७७

दैवमानुषतैरश्च भेदाद् वैचित्र्यशालिनः।

चतुर्दशविधस्यापि कार्मं सर्गस्य कारणम्।। २–४७८

उपर्युक्त त्रिविध मल में कार्ममल मुख्यतया सांसारिक बन्ध में कारण है, क्योंकि इसके विना शेष द्विविध मल से देहादि की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव सांख्ययोगदर्शन में कार्ममल के त्याग पर बल दिया गया है। श्रीगुरु से प्राप्त दीक्षा द्वारा कार्ममल के विनष्ट हो जाने पर मोक्ष का दरवाजा खुल जाता है।

"असंसरणसोपानपदबन्धो दृढीकृत:।
तेन, दीक्षाकृतो यस्य वृत्त एतदुपक्षय:।।" पू.प्र. २–४८४

मलों के तारतम्य से प्रमाता के सात भेद बताये गये है– शिव, मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर, मंत्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। शिव, मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर त्रिविध प्रमाता में केवल मायामल ही रहता है। मल के न्यूनाधिकभाव से इनमें परस्परभेद उपपन्न होता है। मन्त्र, विज्ञानाकल और प्रलयाकल त्रिविध प्रमाता में मायिक और आणव द्विविध मल रहता है। मन्त्र प्रमाता में मायामलप्रयुक्त भेद, विज्ञानाकल में आणवमलप्रयुक्त भेद, और प्रलयाकल में उभयमलप्रयुक्त भेद होता है। प्रलयाकल में धर्माधर्मवासनारूप कार्ममल की सत्ता रहती है किन्तु उस समय उसमें कार्योत्पादन की सामर्थ्य नहीं होने से कार्ममल की गणना नहीं की जाती है।

मलद्वयकृता भान्ति प्रमातारस्त्रयस्त्वमी।
मन्त्रविज्ञानकलनप्रलयाकलनामका:।। पू.प्र. २–४८७

सकलप्रमाता में मायिक, आणव और कार्म त्रिविध मल रहता है। त्रिविध मल के विलक्षण गौण प्रधान भाव से इनमें परस्पर भेद उत्पन्न होता है।

मलैस्त्रिभि: समायुक्त: सकल: सप्तमोमत:।
भेदस्तत्र मलैरस्ति स्वीकृतोऽङ्गाङ्गितादिभि:।। पू.प्र. २–४९०

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति त्रिविध संसारावस्था में सकलप्रमाता पशुता से युक्त होता है। इसके विपरीत तुरीय और तुर्यातीत द्विविध अवस्था में यह मुक्तता से युक्त होता है। स्वातन्त्र्येण पराहम्परामर्श से स्व में पूर्णत्व का भान होने से शून्यादि मितप्रमातृता का त्याग हो जाता है और चिद्रूप में स्थिति होती है जिसे तुर्यातीत अवस्था कहा जाता है। इसमें सम्पूर्ण विश्व अपना स्वरूप ही मालुम पड़ता है। जब साधक अहम्विमर्शरूप पारद से शून्यादि का वेधन करता है तब देहादि की प्रमेयरूपता का त्याग हो जाता है जिसे तुर्यावस्था कहा जाता है। पहले यह बताया जा चुका है– मायाजन्य, अज्ञानपदवाच्य मल अनादि है अत: तन्मूलक पशु भी अनादि है। इसे अज्ञ और अमूर्त शब्दों से भी जाना जाता है। मल के तीन भेद–आणव, मायिक और कार्म का भी संक्षिप्त निरूपण किया गया है।

प्रकारान्तर से जिज्ञासु के बुद्धिवैशद्यार्थ मल के दो प्रकार भी शास्त्र में बतलाये गये है– पहला पौरुषमल तथा दूसरा बौद्धमल।

कार्य और उपाधि के भेद से मल को पूर्वोक्त तीन भागों में बाँटा जाय अथवा उपर्युक्त दो भागों में किन्तु मल की मायिकता में विवाद नहीं है।

मायामलोऽपि मलोऽनादिरेव यत: स्थित:।
अतएव पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञ इति स्मृत:।।
मायया कृतमेव स्यान्मलमज्ञानमत्र हि।
आणवं मायिकं कार्मं त्रिविधं तद् भवेद् द्विधा।।
पौरुषं पुरुषस्थं तद् बौद्धं बुद्धिस्थमेव च।
तत्त्वतो मायिकं सर्वं त्रैविध्यं कार्यनामत:।।

पू.प्र.१–१६३–१६४

१. **पौरुषमल**– पुरुष में रहनेवाले मल को पौरुषमल कहा जाता है। परमेश्वरानुग्रह से सद्गुरु से प्राप्त दीक्षा द्वारा पौरुषमल की निवृत्ति होती है। किन्तु जब तक बौद्धमल का विनाश नहीं हो जाता और तत्प्रयुक्त अन्त:करणशुद्धि नहीं हो जाती तब तक परमेश्वर के साथ एकीकरणरूप दीक्षा सम्भव नहीं है। अत: शास्त्रजन्य निश्चयात्मक बोध से बौद्धमलरूप अज्ञान की निवृत्ति होने के अनन्तर सद्गुरु से प्राप्त दीक्षा द्वारा पौरुषमलरूप अज्ञान की निवृत्ति होती है।

पौरुषं हि मलं यत्स्याद् दीक्षा तस्य निवर्तिका।
किन्तु दीक्षापि नो तावत् यावद् बौद्धं न नश्यति।।
हेयोपादेयनिश्चित्या सत्त्वशुद्धिर्यदा भवेत्।
तदैव जायते सापि दीक्षा या शिवयोजना।। पू.प्र.१–१६५–१६६

जिसके द्वारा ज्ञान का आधान एवम् पशुवासना का क्षय हो उसे दीक्षा कहा जाता है–

दीयते ज्ञानसद्भाव: क्षीयते पशुवासना।
इत्येवं लक्षणा दीक्षा................... ।। पू.प्र. १–१६९

२. **बौद्धमल**– बुद्धि में रहनेवाले अज्ञानरूप मल को बौद्धमल कहा जाता है। इसके दो भेद हैं– (क) अनिश्चय और (ख) विपरीतनिश्चय।

(क) अनिश्चय बौद्धमल– सदा भासमान प्रकाशविमर्शरूप महेश्वर के तात्त्विक स्वभाव का अज्ञान अनिश्चयात्मक बौद्धमल कहलाता है।

(ख) विपरीतनिश्चय– स्वात्ममहेश्वर से भिन्नतया प्रथित होने वाले देह, प्राण, मन, बुद्धि प्रभृति अनात्मा में आत्माभिमान होना विपरीतनिश्चयात्मक बौद्धमल कहलाता है।

शिवोऽहमानन्दघनो महेश: स्वयंप्रकाशश्च परप्रकाश:।
परं न स्वस्मादपि किंचिदन्यत् स्वयं परं सर्वमिदं यतोऽहम्।।

इत्यादिज्ञान से उपर्युक्त द्विविध मल का विनाश होता है।

"अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदित: शास्त्रे मलं तत् स्मृतम्।
पूर्णज्ञानकलोदये तदखिलं निर्मूलतां गच्छति।।" तन्त्रसार।
अनात्मन्यात्मभावो य: स विपरीतनिश्चय:।।
इमे एव मले द्वे हि बुद्धिस्थे परिकीर्तिते।
शास्त्रजेऽध्यवसायात्मज्ञाने सति विनश्यत:।। पू.प्र.१—१७१

क्रीड़ाशील स्वात्ममहेश्वर के स्वातन्त्र्यमात्र से मल के प्रादुर्भाव और तिरोभाव होते हैं। कार्यभेद से मल के अनेक अन्वर्थनाम शास्त्र में बताये गये हैं। यथा अभिलाष, अज्ञान, अविद्या, लोलिका, प्रथा, भवदोष, अनुप्लव, ग्लानि, शोष, विमूढ़ता, अहन्ता, ममता, आतङ्क, माया, शक्ति, आवृत्ति, दोषबीज, पशुत्व और संसाराङ्कुरकारण—इत्यादि।

... "स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भणम्।"

\+ \+ \+

दृक्क्रियापरिपूर्णोऽयमेक एवाप्यनेकक:।
संवृत्तोऽणु:समाच्छाद्य स्वस्वरूपं स्वभावत:।। पू.प्र.

स्वात्मा ही अनुत्तरशिव है। यह स्वप्रकाश और नित्यसिद्ध है। नित्य होने से स्वरूपप्राप्ति हेतु उपाय की आवश्यकता नहीं होती। उपायद्वारा आवरणनाश करना भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि स्वात्मा भासमानस्वरूप ही है। स्वयम् प्रकाशरूप स्वात्मा का पुन:प्रकाशन सम्भव नहीं है, क्योंकि इससे अतिरिक्त ज्ञाता ही कौन हो सकता है। पूर्णस्वात्मा का ध्यान करना आवश्यक नहीं, क्योंकि ध्यान

यत्किंचिद्विषयक होगा। फलतः अपूर्ण और असत्य होगा। अतः स्वात्मप्रकाशन हेतु उपाय का अवलम्बन निरर्थक है। प्रमाणों से पूर्वतः सिद्ध सर्वप्रकाशक स्वात्मा से समस्त प्रमाण अनुप्राणित हुआ करते हैं। अतः प्रमाणद्वारा स्वात्मा की सिद्धि चाहना अपने पैर से अपने सिर की छाया को लाँघने की इच्छा जैसा ही होगा। यह भी ध्यातव्य है— चित्प्रकाश्य समस्त संसार स्वात्मा से अभिन्न है। यतः भिन्नवस्तु ही उपाय बन सकती है। अतः भिन्नवस्तु की सत्ता नहीं होने से स्वात्मप्रकाशनार्थ उपायानुसरण सम्भव नहीं है।

"स्वप्रकाशमयो योऽयं स्वात्मैव परमेश्वरः।
किमुपायेन कर्त्तव्यं नित्ये तत्र महेश्वरे॥
न रूपलाभो नित्यत्वन्नाशो नावरणस्य च।
यतो नावरणं तत्र सकृद्भाते चिदात्मनि"॥

\+ \+ \+

"सर्वप्रकाशके ह्यस्मिन्नादिसिद्धे महार्चिषि।
किं प्रमाणं भवेदन्यद् यत् तस्मादुपजीवति॥
उपायो वा भवेत् कोऽत्र भिन्नस्यानुपलब्धितः।
चित्प्रकाश्यो हि संसारस्तद्भिन्नो नैव सिद्ध्यति"॥

आचार्यसोमानन्द ने शिवदृष्टि में बतलाया है— निरन्तर प्रकाशमान महेश्वर में उपाय की उपयोगिता नहीं है।

"भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदितेः।
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावनाकरणादिना"॥

स्वच्छन्दतन्त्र में भी अपरोक्ष स्वात्मा के लिये उपाय का प्रतिषेध किया है—

"अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वत: प्रकटे स्थिते।
यैरुपाया: प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते"।।

ध्यातव्य है– करण का व्यापार ही उपाय कहलाता है। इसके अव्यवहित उत्तरकाल में फलनिष्पत्ति होती है। उदाहरणार्थ– कुठाररूप करण में विलक्षण उद्‌यमननिपातरूप व्यापार के अनन्तर काष्ठच्छिदारूप फल की निष्पत्ति होती है।

अत: उद्‌यमनादिव्यापार काष्ठच्छिदा का उपाय है। एवम् समस्त कार्य के प्रति उपाय की अनिवार्यता मानी जाती है। किन्तु संविद्रूप स्वात्मा की प्राप्ति में उपर्युक्त नियम लागू नहीं होता। कारण यह है– संवित् से प्रकाशित होने वाले उपाय उसके प्रकाशक नहीं हो सकते। अत: संविद्रूप महेश्वर स्वयंप्रकाश है। यदि यह स्वप्रकाश नहीं हो तो सारे संसार में आन्ध्य (अप्रकाशित होने) की प्रसक्ति होगी।

"उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधिति:।"
(तन्त्रसार)

\+ \+ \+

"संविन्निष्ठा हि सकला: संवेद्‌यत्वात् क्रियादय:।
संविदं नावभासेयुर्भास्यन्तो संविदा त्वमी।।
संविद: स्वप्रकाशत्वे युक्तिरेकैव निर्मला।
संविदोऽस्वप्रकाशत्वे स्यादान्ध्यं जगत इति।।"

सम्प्रति मातृकाक्रम से प्रत्यभिज्ञादर्शन के तत्त्वों का स्वरूप उपस्थापित किया जा रहा है। अकार अनुत्तर शिव का वाचक है। शब्द और अर्थ में परस्पर अभेद होने से अकार अनुत्तरतत्त्व है ऐसा व्यवहार होता है। एवम् इकारादि वर्ण के सन्दर्भ में भी समझना चाहिये।

अकारस्वरूप 'अनुत्तर' शिव, स्वरूप में विश्रान्त रहने से आकार

वाच्य 'आनन्द' रूप में विद्यमान रहता है। यह विश्वोल्लासनदशा में इकाररूप 'इच्छा' शक्ति का आश्रयण कर ईकारवाच्य ईशितावस्था को प्राप्त करता है। फलत: उकाररूप (विश्व के) उन्मेष से द्वैतप्रतिभास के कारण स्वयम् ऊकारवाच्य 'ऊनता' को प्राप्त होता है। इकार से इच्छा सामान्य का द्योतन होता है। विषयविशिष्ट इच्छा की विवक्षा रहने पर यत: इच्छा का विषय दो प्रकार का होता है– प्रकाशक और प्रकाश्य। अत: तेजोरूप प्रकाशक का वह्निबीज रेफ और पृथिवीरूप प्रकाश्य का पृथिवीबीज लकार से उपलक्षित ऋ और ऌ का आविर्भाव होता है। इस प्रकार इन दो मातृकाओं से अनुत्कट सविषयिणी इच्छा प्रतीत होती है। उत्कटरूपता को प्राप्त यही इच्छा ॠ और ॡ मातृकाओं से प्रतीत होती है। अनुत्तर एवम् आनन्द की इच्छा का उपचयार्थ संयोजन एकार मातृका से और उनके उन्मेष का संयोजन ओकार मातृका से प्रत्यायित होता है। इनकी गाढ़रूपता की प्रतीति ऐ और औ मातृकाओं से होती है। आनन्दादि शक्तियों के आश्रयभूत स्फुरणतत्त्व का वाचक अन्वर्थ वर्ण, बिन्दु है। जिसकी व्युत्पत्ति है– वेत्तीति बिन्दु:। पदार्थों का अन्तर्विसर्जन, विलापन कहलाता है और बाह्यविसर्जन उल्लास कहलाता है। द्विविध विसर्जन का द्योतन करने हेतु बिन्दुद्वयरूप विसर्ग का उल्लासन होता है। विसर्ग में अकार और हकार का सामरस्येन उच्चारण होता है जिसके द्वारा अनुत्तरशिव और आनन्दादिशक्ति के सामरस्य का आविष्करण होता है।

"अकार: सर्व वर्णाग्र्य: ख्यातो य: परम: शिव:।
हकारो व्योमरूप: स्याच्छक्त्यात्मा सम्प्रकीर्तित:"।।

सर्वे सवार्थवाचका: की रीति से अ, इ, ऋ, ऌ और उ रूप मातृकापंचक से चिद्, आनन्द इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप शक्तिपंचक का बोध होता है। यहाँ इकार के पश्चात् इकारश्रुति घटित ऋ और ऌ का निर्देश कर उ का निर्देश किया गया है। अतएव वर्णों के उच्चारण

स्थाननिर्देशन में वैयाकरण– **अकुहविसर्जनीयानां कण्ठ:, इचुयशानां तालु:** से इकार स्थाननिर्देश के अनन्तर **ऋटुरषाणां मूर्धा, लृतुलसानां दन्ता:** से ऋकार और लृकार के स्थान का निर्देश करते हैं। तदनन्तर **उपूपध्मामानीयानामोष्ठौ** से उकार का स्थाननिर्देश करते हैं। अकारादि मातृका–वाच्य चिदादिशक्तिपंचक से कवर्गादि वर्गपंचक उदित होता है। तथाहि स्थानसाम्य से अकारात्मक सूक्ष्मनाद जिह्वा के अग्र उपाग्र प्रभृति स्थान द्वारा स्पृष्टादि प्रयत्न की सहायता में स्थूलता को प्राप्त कर कवर्गरूप में परिभासित होता है। एवम् इकार से चवर्ग, ऋकार से टवर्ग, लृकार से तवर्ग और उकार से पवर्ग परिभासित होता है। प्रत्येक चिदादिशक्ति की पंचशक्त्यात्मकता होने से प्रत्येक वर्ग में वर्णपंचक का आविर्भाव होता है। कवर्ग–पृथिवी, जल, तेजस्, वायु और आकाश रूप पंचभूत का वाचक है। चवर्ग– गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दरूप पंचतन्मात्रा का वाचक है। टवर्ग–उपस्थ, पायु, पाद, पाणि और वाग्रूप पंचकर्मेन्द्रिय का वाचक है। तवर्ग–घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्ररूप पंचज्ञानेन्द्रिय का वाचक है। पवर्ग–मनस्, बुद्धि, अंहकार, प्रकृति और पुरुष का वाचक है। स्थानसाम्य से चिदादिशक्तिपंचक से ही यवर्ग और शवर्ग का आविर्भाव होता है। दन्तोष्ठस्थानी वकार ज्ञान और क्रिया शक्तिद्वय का स्थूल रूप है। यवर्ग (य, र, ल, व) क्रमश: नियति, राग, कला और अशुद्धविद्या का वाचक है। इसमें माया और काल का भी अन्तर्भाव होता है। अन्त: अर्थात् प्रमातृत्व में कंचुकरूप में स्थित रहने से इन्हें अन्त:स्थ कहा जाता है। शवर्ग के श, ष और स वर्ण क्रमश: ईश्वर, सदाशिव और शक्ति के वाचक हैं तथा हवर्ण अनाहतमयी विलक्षण शक्तिदशा का वाचक है। ईश्वरादि तत्त्वों में अभेदांश के उन्मेष होने से शवर्ग को ऊष्मा शब्द से जाना जाता है। इस प्रकार अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, और शवर्ग आठ वर्ग होते हैं। अकाररूप शिव और

हकाररूप शक्ति के मध्य समस्त तत्त्वान्तर का अन्तर्भाव होने से शिवादि पृथ्व्यन्त का वाचक अहम् प्रत्याहार की निष्पत्ति होती है। शक्तिमान् अनुत्तर और शक्ति के सामरस्य हेतु **नादस्यान्ते शिवं स्मरेत्** – के अनुसार नाद का उत्थापन कर द्वादशान्त में उसके विलापन से प्राप्य आत्मविश्रान्ति का निर्देशन हेतु अन्त में अकार का प्रयोग किया जाता है।

अहम् शब्द अन्वर्थ अव्ययपद है। अन्यथा अहन्ता प्रयोग की निष्पति नहीं हो सकती। औणादिक सूत्र **"युष्यसिभ्यां मदिक्"** के अनुसार अस्ति **त्रैकाल्येऽपि** अथवा **अस्यति सर्वाक्षेपेण वर्तते** व्युत्पत्ति से अस्मद् शब्द भी स्वात्मा का वाचक है।

अहम् के समान ओम् भी प्रत्याहार ही है। तथाहि– अ, इ, ऋ, ऌ और उ रूप चिदादि शक्तिपंचक ही सकल मातृकाचक्र को अपने गर्भ में अन्तर्हित रखता है। अत: अ से उ पर्यन्त 'ओ' द्वारा अनुत्तर की शक्तियों का बोध होता है। शक्तियों की प्रकाशात्मकता व्यवस्थापनार्थ बिन्दु का योजन करने से ओम् की निष्पत्ति होती है। अत: अहम् और ओम् रूप प्रणव की पर्यायरूपता सिद्ध होती है। परमेश्वरानुग्रह से पशु को पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा से स्वात्मबोध द्वारा अज्ञानभेदनपुर:सर अपरिच्छिन्न स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। शास्त्र में इसके निम्नलिखित उपाय बताये गये हैं–

अनुपाय, शाम्भव उपाय, शाक्त उपाय और आणव उपाय। उत्कृष्ट अधिकारी को गुरु के सकृद् उपदेश से, सिद्धयोगी के दर्शन से अथवा प्रामाणिक विवेचनमात्र से पूर्णता का आविर्भाव होता है। स्वल्प उपाय होने से इसे अनुपाय शब्द से जाना जाता है। उत्तम अधिकारी को इच्छात्मक अभेदरूप शैवोपाय से, मध्यम अधिकारी को ज्ञानात्मक भेदाभेद शाक्तोपाय से और अपर अधिकारी को क्रियात्मक भेदरूप

आणवोपाय से पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा होती है।

"अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः।"

"मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।।"

उपर्युक्त उपायों का स्वरूपाविर्भावरूप एक ही फल है।

मूलकारण

सम्प्रति यह विचारणीय है कि जगत् का मूलकारण एक है, दो हैं अथवा शून्य है। आपाततः व्यवहार में देखा जाता है कि दो कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है। एक से अथवा शून्य से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अतएव सांख्य एवम् योगदर्शनों में प्रकृति और पुरुष– दो की कारणता मानी गई है।

एक एवास्ति वा मूले द्वौ स्त इति विचिन्त्यते।
अथवैकमपि नास्त्येव शून्यमेव विजृम्भते।।
द्वाभ्यामेव समुत्पत्तिर्लोके सर्वस्य वस्तुनः।
तथा सांख्येपि योगेपि द्वयोः सत्त्वं सदा मतम्।।
प्रकृतिः पुरुषोऽप्यस्ति जडश्चेतन एव च।
स्त्री पुमान् दिनं रात्रिः सूर्यश्चापि कलाधरः।।

किन्तु ध्यातव्य है कि किसी कार्य की उत्पत्ति में एक की कारणता होती है। अतएव एक ही बीज से एक अथवा अनेक पौधे उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ– आम की गुठली से आम्रवृक्ष पैदा होता है। और इक्षुदण्ड से अनेक इक्षुपौधे उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत किसी कार्य की उत्पत्ति में दो की कारणता होती है। उदाहरणार्थ– पुरुष और स्त्री दो कारणों से सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त किसी कार्य की उत्पत्ति में कई वस्तुओं की कारणता होती है। उदाहरणार्थ–

घट की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र, कुलाल, कपाल, कपालद्वयसंयोग प्रभृति की कारणता होती है।

इस प्रसंग में यह नितान्त ध्येय है कि एक की कारणता हो, दो की कारणता हो अथवा कई वस्तुओं की कारणता हो– किसी भी स्थिति में कारण को शक्तिसम्पन्न होना अत्यन्त अपेक्षित होता है अतएव शक्तिसम्पन्न एक बीज से एक या अनेक पौधों की उत्पत्ति देखी जाती है। इसके विपरीत अशक्त बहुत सारे धान्यादि से एक भी अंकुर नहीं उत्पन्न होता है। एवम् जिस कार्य में दो की कारणता है, वहाँ भी दोनों को शक्तिसम्पन्न होना अपेक्षित है। यथा सन्तान की उत्पत्ति में स्त्री और पुरुष दो की कारणता है। अत: इन दोनों की शक्तिसम्पन्नता अत्यन्त अपेक्षित होती है। अतएव इन दोनों में किसी एक के अशक्त होने से सन्तान की उत्पत्ति नहीं होती है। एवम् घटादि के अनेक कारणों में भी शक्तिसम्पन्नता अपेक्षित है। अतएव अपेक्षित कारणों में एक की भी अशक्तता होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट प्रतीति होती है कि कारणता एक की हो अथवा अनेक की, परन्तु शक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस प्रकार लाघव के बल पर शक्ति को ही मूलकारण माना जाता है। एक स्थल में यह शक्ति एक से अभिव्यक्त होती है तो अन्य स्थल में अनेक से।

एकेनैव तु बीजेन शक्तेन बहु व्यज्यते।
बहुभिश्चाप्यशक्तैर्न जन्यते किंचिदण्वपि।।

\+ \+ \+

इति द्वित्वं न वैकत्वं साधकं किन्तु साधिका।
शक्तिरेका वर्त्तमाना ह्येकस्मिन् वा द्वयोस्त्रिषु।।

\+ \+ \+

व्यज्यते शक्तिरेकेन क्वचिद् द्वाभ्यां त्रिभिः क्वचित्।
क्वचिदेको न कुरुते द्वावप्येवं क्वचिन्नहि।।

दो वस्तुओं की कारणता स्वीकारने वालों का आक्षेप है कि पौधे की उत्पत्ति में एक बीज की कारणता को स्वीकारना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि बीज के अतिरिक्त पृथिवी, जल आदि सहकारी कारणों की भी आवश्यकता होती है। तथाहि पौधे के आश्रय हेतु पृथिवी, अंकुरण हेतु जल एवम् अवकाश हेतु आकाश आदि की भी अपेक्षा होती है।

उपर्युक्त आक्षेप का समाधान प्रतिबन्दी–न्याय से दिया जाता है कि दो वस्तुओं की कारणता स्वीकारने वालों के पक्ष में भी यह आक्षेप समान रूप से लागू होता है। तथाहि सन्तान की उत्पत्ति में स्त्री और पुरुष दो की कारणता को स्वीकारने पर भी इन दोनों के आश्रय रूप में तृतीय की अपेक्षा होती है, जिस आश्रय के सहारे दोनों कारण मिलकर सन्तान की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार तृतीय वस्तु की अपेक्षा का अपलाप नहीं किया जा सकता।

आकाशोऽप्यवकाशार्थमाश्रयार्थं च भूरपि।
जलमप्यङ्कुराद्यर्थं बीजस्य सहकारि चेत्।।

+ + +

द्वयोरप्यवकाशार्थमाश्रयार्थं तथात्मनोः।
अस्त्यपेक्षा तृतीयस्य कार्यं यत्रापि सम्भवेत्।।

+ + +

यत्र स्थित्वा च सम्मिल्य जनयेतामिमौ जनिम्।
तादृशस्य तृतीयस्यासत्त्वे द्वौ न प्रसिद्ध्यतः।।

कारणरूपों में अभिमत दो वस्तु, शून्य में आश्रित होकर कार्य को

उत्पन्न करते हैं। यह कथन युक्तिसंगत नहीं हो सकता। क्योंकि शून्य तो असत् है अर्थात् शशश्रृंगादि के सदृश तुच्छ है। अतः वह जगत् के कारणरूपों में अभिमत दो वस्तुओं का आधार नहीं हो सकता।

शून्यमेव समाश्रित्य द्वावेव कुरुतो यदि।
एक एव न किं कुर्यात् स्वस्मिन्नेव स्वशक्तितः।।
किंच शून्यमसद्रूपं तुच्छं तत्तु कथं भवेत्।
आधारः कारको धर्ता जगतो बीजयोर्द्वयोः।।

कारणरूपों में अभिमत दो वस्तु भी परस्पर एकरूपता को प्राप्त कर ही पुत्र अथवा पुत्री को उत्पन्न करते हैं। यदि दोनों कारण वस्तुतः पृथक् होते तो स्वतन्त्रतया पृथक् पृथक् कार्यों को उत्पन्न करते। एक ही परम बीज अनुत्तरतत्त्व है जो शिव और शक्ति रूपों में भासमान हो रहा है इस रहस्य को समझाने के लिये कारणरूपों में अभिमत जननी और जनक पौनःपुन्येन एकीकृत होकर ही सृष्टि करते हैं।

द्वावपीमौ च कुर्वाणौ सम्मिल्यैकत्वमागतौ।
एकमेवैकसदृशं कुर्वाते न पृथक् पृथक्।।
यदि स्यातां पृथग् भिन्नाविमौ द्वावपि तत्त्वतः।
कुर्यातां पृथगेवेमौ स्वतन्त्रौ स्वीयशक्तितः।।

\+ \+ \+

एक एव द्विरूपेण भासेऽहं द्वावतो नहि।
इति सन्दर्शनायैव द्वावेकोऽपि पुनः पुनः।।

अद्वैत अनुत्तर स्वात्मा ही जगत् का बीज है। यह शिव शक्ति-समन्वित है और बिन्दु-विसर्गरूपों में भासित होता है। सागर के अन्योन्याश्रित स्वरूप 'शान्तता' और 'तरंगिता' के सदृश सुधासागर

'अनुत्तर–तत्त्व' के अन्योन्याश्रित स्वरूप हैं– बिन्दुरूप शिव और विसर्गरूप शक्ति।

अनुत्तरं परं बीजं शिवशक्तिसमन्वितम्।

एकमेवाद्वयं, बिन्दुविसर्गाविव संस्थितम्।।

\+ + +

उभे एव समुद्रस्य स्वस्वरूपे स्वभावतः।

परस्पराश्रिते चेमे सोर्मिताशान्तते किल।।

अतः अनुत्तर महेश्वर ही परमार्थ है और समस्त जगत् का मूल कारण है। इसमें शिव और शक्ति दो तत्त्व भासित हो रहे हैं। यह सत्, चिद् और आनन्द रूप है। इसकी सत्ता से ही सारा संसार सत्तावान् होकर भासमान होता है।

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"।

\+ + +

एकस्मिन्नपि बीजे द्वे तत्त्वे चेत् समवस्थिते।

सत्यं बीजं न शून्यं स्यात् स्याद् बीजं त्वादिकारणम्।।

\+ + +

अखण्ड-चिद्घन परमेश्वर स्वातन्त्र्यशक्ति द्वारा सम्पूर्ण विश्व का आच्छादन करने वाले कोशरूप अण्ड (वस्तु पिण्ड) का प्रकाशन करता है। अर्थात् प्रभु की शक्ति का विकासस्फार ही जगन्निर्माण है।

इति सर्वाणि तत्त्वानि स्पन्दो भागवतो यतः।

शक्तिश्च शक्तिमांश्चापि द्वे तत्त्वे समवस्थिते।।

\+ + +

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः॥

अण्ड के चार भेद बतलाये गये हैं–

१. शक्ति २. माया ३. प्रकृति और ४. पृथिवी।

शक्त्यण्डमथ मायाण्डं प्रकृत्यण्डं तृतीयकम्।
ब्रह्माण्डं च चतुर्थं यत् पृथिव्यण्डापराभिधम्॥

१. शक्त्यण्ड–

यह विश्वप्रमाता एवम् प्रमेयरूपों में विभाजित होकर भासित होता है। भासमान विश्व का सार पराहन्ताचमत्कार है। स्वरूप की अपोहनरूप अख्यातिमयी प्रभुशक्ति शक्त्यण्ड कहलाती है।

मातृमेयात्मविश्वस्य स्वात्मरूपस्य सर्वदा।
पराहन्ताचमत्कारसारभूततया सतः॥
स्वरूपापोहनात्मेयमख्यातिर्यास्ति तन्मयी।
नञर्थाभावरूपात्मनिषेधव्यापृतिश्च या॥
सा शक्तिः परमेशस्य शक्त्यण्डमिति प्रोच्यते।

यह अण्ड सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या में स्थित रहता है तथा अपने अन्दर शेष तीन अण्डों को गर्भित रखता है। इसके अधिपति, सदाशिव और ईश्वर हैं।

मायाप्रकृतिपृथ्व्यण्डं गर्भीकृत्याग्रिमत्रयम्।
अस्मिन्नण्डे ह्यधिपती देवौ सदाशिवेश्वरौ॥

२. मायाण्ड– यह समस्त प्रमाताओं का बन्धन आणव, मायिक और कार्म त्रिविध मल से युक्त होता है। यह अण्ड पुरुषतत्त्वपर्यन्त स्थित रहता है और अपने अन्दर प्रकृत्यण्ड एवम् पृथिव्यण्ड को गर्भित

रखता है। इसका अधिपति 'गहन' संज्ञक रुद्र है।

मलत्रयस्वभावत्वात् स्थितं मोहमयं च यत्।
भेदैकप्रवणत्वाच्च प्रमातुर्बन्धनात्मकम्।।

\+ + +

दलं पुंस्तत्त्वपर्यन्तमण्डं मायात्मकं च तत्।
पूर्ववद् वक्ष्यमाणाण्डमन्तः स्वीकृत्य संस्थितम्।।
रुद्रो गहननामात्र स्वामी देवो विराजते।

३. प्रकृत्यण्ड– सत्त्व, रजस् और तमस्– गुणत्रय की साम्यावस्था प्रकृति है, जो कार्य और कारणरूपों में परिणत होने से सुख, दुःख और मोहस्वभाव होने से बन्धन में डालती है। इसके अधिपति भेदप्रधान भगवान् विष्णु हैं।

प्रकृतिः सा परिणता या कार्यकरणात्मना।
भोग्या पशुप्रमातॄणां बन्धयित्री सुखादिना।।
सा प्रकृत्यण्डमित्युक्तं विष्णुरस्येश्वरः स्मृतः।

४. पृथिव्यण्ड–यह मनुष्य से स्थावरपर्यन्त प्रमाताओं के प्रतिरूप होने से बन्धन में डालनेवाला है अतएव स्थूलकंचुकसदृश है। इसे ब्रह्माण्डशब्द से भी जाना जाता है। इसके अधिपति भगवान् ब्रह्मा हैं।

या स्थूलकंचुकमयी मातॄणां प्रतिरूपतः।
चतुर्दशविधे भूतसर्गे बन्धनकारिणी।।
पृथ्वी सैव तुरीयाण्डं ब्रह्मदैवतमुच्यते।

उपर्युक्त चतुर्विध अण्ड महेश्वर से विजृम्भित होकर प्रकाशित होते हैं। इन्हीं में सम्पूर्ण विश्व अन्तर्भूत है। विश्व में रुद्र और क्षेत्रज्ञ के

भेद से परस्पर भिन्न नानाविध मुखहस्तपादादि रचनारूप विचित्र आकृतियाँ हैं, परस्पर भिन्न सातिशय चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं और सातिशय संस्थान वाले भुवन हैं। भोग्यरूप सम्पूर्ण विश्व का भोक्ता भगवान् महेश्वर है।

विचित्रतनुकरणभुवनादि प्रवाहवत्।
विश्वमन्तर्भवत्येषु शिवो भोक्ता पशुर्भवन्।।

\+ + +

अण्डं च नाम भुवनविभागस्थितिकारणम्।
प्राहुरावरणं तच्च शक्त्यन्तं तावदस्ति हि।।

माया

प्रभु अपनी मायाशक्ति से प्रथमतः ग्राहकांश का अवभासन करता है। तदनन्तर ग्राह्यांश का अवभासन करता है। इस सन्दर्भ में शास्त्रकारों का दूसरा पक्ष है कि ग्राह्य और ग्राहक परस्पर आश्रित हैं। अतः महेश्वर अपनी मायाशक्ति से एक साथ ही ग्राह्य और ग्राहक समुदाय का अवभासन करता हुआ देदीप्यमान है।

प्रथमं ग्राह्कांशस्य ग्राह्यांशस्य ततः परम्।
उल्लासनं भगवता क्रियते स्वीयमायया।।

\+ + +

अथवा सममेवायं ग्राह्यग्राहकमण्डलम्।
मायया कलया देवो भासयन् भाति भास्वरः।।

प्रभु की माया, भेद का अवभासन करती है। यह अघटितघटनापटीयसी है। जो न केवल अहम् को इदम्रूप में भासित करती है अपितु चेतन में जड़ता तथा जड़ में चेतनता को भी उल्लसित करती है।

मायाशक्तिः शिवस्यैव भेदाभासनरूपिणी।
यया वस्त्वन्यथा भाति स्वस्वातन्त्र्यजिघांसया।।

\+ \+ \+

चिद्रूपैकरसे परे सुखमये भाते सदाहन्तया
वेद्यत्वेन विभासितं पुनरिदं सर्वं ययेदन्तया।
चैतन्ये जडतां जडेप्यजडतामुल्लासयन्ती मुदा
सा माया भुवनेश्वरी विजयते स्वातन्त्र्यभंगोद्भवा।।

कार्यभेद से माया के तीन भेद बतलाये गये हैं– १. ग्रन्थि २. तत्त्व और ३. शक्ति।

इत्थं माया त्रिधा ख्याता नामकार्यविभेदतः।
ग्रन्थिस्तत्त्वं च शक्तिश्च यद्यप्येकैव वस्तुतः।।

१. **ग्रन्थि**– सृष्टि हेतु उन्मुख होती हुई माया वैषम्यावस्था को प्राप्त होती है, जिसे 'मायाग्रन्थि' शब्द से जाना जाता है। शास्त्र में इसके लिये मायाविल शब्द का भी उल्लेख किया गया है।

वैषम्यमधिगच्छन्ती जननौन्मुख्यभागियम्।
मायाग्रन्थिः समाख्याता मायाविलपदाभिधा।।

२. **तत्त्व**– प्रभु की मायाशक्ति से अव्यक्त और कला की उत्पत्ति होती है। फलतः अव्यक्त और कला का सार होने से माया को मायातत्त्व शब्द से अभिहित किया जाता है। शास्त्र में इसके लिये गुहा शब्द का भी उल्लेख किया जाता है।

अव्यक्तस्य कलायाश्च जननी या गुहा स्मृता।
साव्यक्तकलयोस्तत्त्वं तत्त्वरूपेति कथ्यते।।

३. **शक्ति**– तत्त्व में अतत्त्व की तथा अतत्त्व में तत्त्व की प्रतीति

भ्रम कहलाती है। एवम् यह तत्त्व है या नहीं– यह प्रतीति संशय कहलाती है।

उपर्युक्त द्विविध प्रतीति (भ्रम और संशय) माया से उत्पन्न होती है, जिसे शक्ति शब्द से अभिहित किया जाता है। इसके द्वारा अभेद में भेद की प्रतीति होती है।

इदं तत्त्वमिदं नेति भ्रमसंशयदायिनी।
मायाशक्तिः समाख्याताभिन्ने भेदावभासिनी।।

माया से साक्षात् और परम्परया अनेक तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। माया से साक्षात् उत्पन्न होने वाले तत्त्व को कला शब्द से अभिहित किया जाता है।

मायाकार्येपि तत्त्वौघे कार्यकारणता मिथः।
उपादानं क्वचिन्माया क्वचित् तत्कार्यमेव हि।।

\+ \+ \+

मायातस्तु कला जाता कलातस्तत्त्वविस्तरः।

कला

जिस प्रकार कला की साक्षात् उत्पादिका माया है उसी प्रकार विद्या, राग, नियति और काल– इन चार तत्त्वों की साक्षात् उत्पादिका कला है।

किंचित् कर्तृत्वरूपायाः कलायास्तु निशा यथा।
जन्मदास्ति तथैवास्ति कला विद्यादिजन्मदा।।

किसी स्थल में पहले राग होता है, तदनन्तर ज्ञान होता है। इसके विपरीत अन्य स्थल में पहले ज्ञान होता है तदनन्तर राग होता है। अतः कलाकार्यों की उत्पत्ति में क्रम नियत नहीं है।

विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम्।
कला कार्यमिति प्रोक्तं क्रमस्त्वत्राव्यवस्थितः।।

\+ + +

रज्यमानः क्वचिद् वेत्ति विदन् कुत्रापि रज्यते।
इत्यतः क्रमबन्ध्यैव सृष्टिर्ज्ञेया तु वस्तुतः।।

कंचुक

शैवागम में छः कंचुक बतलाये गये हैं– माया, कला, राग, विद्या, काल और नियति। ये पुरुष के स्वरूप का आवरण करते हैं अतः इन्हें कंचुक शब्द से अभिहित किया जाता है। तण्डुल के तीन आवरण की तरह पुरुष के भी तीन आवरण शास्त्र में बतलाये गये हैं– पर, सूक्ष्म और स्थूल।

माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च।
कंचुकानि षडुक्तानि नोक्तान्यन्यत्र यानि वै।।

१. पर आवरण–

जिस प्रकार तण्डुल का **पर** आवरण कम्बुक अर्थात गूड़ा है उसी प्रकार माया प्रभृति कंचुकषट्क पुरुष का **पर** आवरण है। मनस्, बुद्धि और अहंकार रूप अन्तःकरण की तरह पर आवरण (कंचुक) प्रत्येक पुरुष में भिन्न–भिन्न होते हैं।

तण्डुलस्येव पुंसोऽपि कम्बुकमिव कंचुकम्।
परमावरणं भिन्नं भिन्नान्तःकरणादिवत्।।

२. सूक्ष्म आवरण–

प्रकृति से तन्मात्रपर्यन्त तत्त्वों का समूह मिलितरूप में **सूक्ष्म** देह के उत्पादक हैं। अतः जिस प्रकार तुष अर्थात् भूसी तण्डुल का **सूक्ष्म**

आवरण है उसी प्रकार उपर्युक्त तत्त्वसमूह को पुरुष का **सूक्ष्म** आवरण माना जाता है।

सूक्ष्ममावरणं सूक्ष्मदेहारम्भकमेव यत्।
तन्मात्रान्तं प्रकृत्यादि तुषवत् तद् व्यवस्थितम्।।

३. स्थूल आवरण–

आकाश, वायु, तेजस्, जल एवम् पृथिवी को पंचभूत संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इनसे स्थूलदेह की उत्पत्ति होती है। अत: जिस प्रकार किंशारुक अर्थात् सूँघ तण्डुल का **स्थूल** आवरण है उसी प्रकार पंचभूत को पुरुष का **स्थूल** आवरण माना जाता है।

स्थूलमावरणं स्थूलदेहारम्भकमस्ति यत्।
किंशारुकमिव स्थूलं तदेतद् भूतपंचकम्।।

स्वात्ममहेश्वर ही कंचुकषट्क से पाशित होकर पशुता को प्राप्त होता है। तथाहि–प्रभु की मायाशक्ति प्रथम कंचुक है। इसके द्वारा स्वरूप का व्यामोहन हो जाता है।

"दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां किं न सम्भवम्"

स्वरूप का व्यामोहन होने से पुरुष की सर्वकर्त्तृता आच्छादित हो जाती है फलत: सर्वज्ञता का परित्याग हो जाता है। द्वितीय कंचुक कलातत्त्व है। यह माया से उत्पन्न होती है और अशुद्धविद्या प्रभृति तत्त्वचतुष्टय को उत्पन्न करती है। उपर्युक्त मायाकृत्य के सम्पादन होने के पश्चात् पुरुष में किंचित्कर्त्तृता का आधान कलातत्त्व से होता है। कला शक्ति किंचित्कर्त्तृत्व की आधायिका है। इसका विशेष्यांश 'कर्त्तृत्व' है जो अशुद्धविद्या प्रभृति की उत्पत्ति द्वारा भोक्तृत्व का परिपूरक होता है। एवम् इसका विशेषणांश 'किंचित्' है जो प्रधान की उत्पत्ति द्वारा

भोग्यत्व का परिपूरक होता है। **अहमिदानीमिदमेव जानामि** अर्थात् मैं अभी यही जानता हूँ एवम् **अहमिदानीमिदमेव करोमि** अर्थात् मैं अभी यही कार्य करता हूँ– इस तरह का विमर्श प्रमाता को ही सम्भव है प्रमेय को नहीं। अत: कलाजन्य विद्यादिचतुष्टय भोक्तृत्व का परिपूरक है।

भोक्तृत्वाधायकं तत्र विद्याद्युत्पादनक्रमात्।
कर्त्तृत्वं तद्विशेष्यांशो भोग्यं किंचिद् विशेषणम्।।

\+ + +

इदानीमिदमेवाहं जानामि च करोमि च।
विमर्शोयं प्रमातु: स्यान्न प्रमेयस्य तेन हि।।
कलाकार्यमिदं सर्वं भोक्तृत्वपरिपूरकम्।
भोग्यरूपं प्रधानं यत् तद्विशेषणजं स्फुटम्।।

प्रथमत: माया शुद्धचेतन को स्वरूपव्यामोहन द्वारा मूर्च्छितप्राय करती है। तदनन्तर कला किंचित्कर्त्तृता का आधान करती है। अत: विभिन्न कार्य के सम्पादक होने से माया से भिन्न कलातत्त्व को अंगीकार किया जाता है। एवम् विद्यादि की भिन्नतत्त्वरूपता में भी इस युक्ति का अनुसरण करना चाहिये।

कार्यस्यैव विभिन्नत्वाद् भिन्नान्यनुमितानि वै।
तत्त्वानि त्वन्यथा न स्याद् मायाभिन्नस्य तत्त्वता।।

\+ + +

मूर्च्छितप्रायतां माया कला किंचिच्च कर्त्तृताम्।
विदधातीत्युभे भिन्ने कार्यभेदाद् व्यवस्थिते।।

तृतीय कंचुक अशुद्धविद्या है। यह किंचिज्ज्ञता की आधायिका शक्ति है। उपर्युक्त कलाकृत्य के सम्पादन होने के पश्चात् कला से

उत्पन्न होने वाली अशुद्धविद्या द्वारा किंचिज्ज्ञता (कुछ ही जानना) का आधान होता है।

व्यामोहकारिणी माया शक्तिः स्वस्य शिवस्य मे।
स्वस्वभावं तया हित्वा प्रत्ययोद्भवरूपया।।
सर्वकर्त्तृत्वमाच्छिद्य हित्वा सर्वज्ञतामपि।
किंचिज्ज्ञत्वसमापन्नः कलाविद्यासमावृतः।।

\+ \+ \+

किंचित्कर्त्तृत्वमाधातुं शक्ता शक्तिः कलोच्यते।
किंचिद्वेदनरूपात्र शक्तिर्विद्येति भण्यते।।

चतुर्थ कंचुक कालतत्त्व है जो **अहं करोमि, अहं कृतवान्** और **अहं करिष्यामि**– इत्यादि रूपों में काल से परिच्छिन्न कर्त्तृता का अवभासन करता है। कला और अशुद्धविद्या से आवृत स्वात्मा स्वाभाविक अपरिच्छिन्नत्व धर्म का परामर्श नहीं कर पाता है। तदनन्तर कालतत्त्व से स्वरूप का परिच्छेदन हो जाता है। फलतः सर्वात्मकता विस्मृत हो जाती है।

ततः कालपरिच्छिन्नकर्त्तृत्वप्रविभासकम्।
कालतत्त्वमिदं प्रोक्तं कंचुकान्तर्गतं पुनः।।

पंचम कंचुक नियति है। यह कार्य इस कारण से होता है अन्य से नहीं– इस प्रकार नियमन करने वाली शक्ति नियति कहलाती है। कालतत्त्व के कृत्यसम्पादन के अनन्तर नियतिद्वारा नियत कार्यकारणभाव का अभिमान होता है। फलतः स्वात्मा नियन्त्रित हो जाता है और नित्य अनभिलाषिता का हनन हो जाता है।

अस्मात् कारणतश्चेदं कार्यं सिध्यति नान्यतः।
इत्येवं नियमयन्ती नियतिः कंचुकात्मिका।।

षष्ठ कंचुक राग है। लोकिकासंज्ञक—इच्छा ही **"किंचिन्मे भवतात्"** अर्थात् कुछ मुझे होवे— इस प्रकार सामान्य विषय का आकलन करती है। किंचित्त्व सामान्य की सत्ता सर्वत्र रहती है और नियत विषय में आसंग होने पर राग शब्द से इसका अभिधान किया जाता है। नियति के कृत्यसम्पादन के अनन्तर अभिलाषरूप राग से रंजित महेश्वर ही स्वभिन्नवेद्य हेतु उन्मुख होता है। राग को लोलिका, अभिलाषा, आसक्ति—प्रभृति शब्दों से भी जाना जाता है।

इत्थमिच्छात्मिकैवेयं लोलिकैव यदा पुनः।
सामान्याकारविषया किंचिन्मे भवतादिति।।
तदा भवति पुंधर्मो रागः कंचुकमध्यगः।

\+ \+ \+

किंचित्त्वस्य तु सर्वत्र सत्त्वेऽप्यत्रैव यत् पुनः।
आसंगो रागतत्त्वं तत् पशोः कल्प्यं तु कंचुकम्।।

माया प्रभृति कंचुकषट्क से स्वात्मा ही स्वरूप की विस्मृति द्वारा स्वभिन्नतया वेद्यसमूह को देखता हुआ नियतविषयक राग से पाशित होकर सांसारिक क्रीड़ा करता हुआ सुख—दुःख का भोक्ता होने से पशुरूपता को प्राप्त होता है।

माययान्धीकृतो भिन्नवेद्यं पश्यंस्तु पाशितः।
स्वात्मनो भिन्नवेद्यानां दर्शनं पाश उच्यते।।

\+ \+ \+

कंचुकाख्येन षट्केन पाशितः सन् पशुः स्वयम्।
भवन् क्रीडामि शक्त्यैव स्वीयया स्वेच्छयानया।

\+ \+ \+

व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्।

विलक्षण पुण्यपरिपाक से अमोघ वैराग्यसम्पत्ति द्वारा परमेश्वरानुग्रह से श्रीसद्गुरु के उपदेश से स्वातन्त्र्येण पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा से चमत्कृत होकर देदीप्यमान हो उठता है। फलतः पशुवासना क्षीण हो जाती है और भेद के अपगम हो जाने से पशु ही स्वरूपाविर्भाव द्वारा पशुपति हो जाता है।

शक्तिपातवशाद् देवि नीयते सद्गुरुं प्रति।

\+ \+ \+

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
इत्येवं लक्षणा दीक्षा..............।।
यो निश्चयः पशुजनस्य जडोस्मि कर्म–
संपाशितोस्मि मलिनोस्मि परेरितोस्मि।
इत्येतदन्यदृढनिश्चयलाभसिद्ध्या
सद्यः पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा।।

\+ \+ \+

अनुग्रहपरः शिवो वशितयाऽनुगृह्णाति यं
स एव परमेश्वरीभवति नाम किं वाद्भुतम्।
उपायपरिकल्पना ननु तदीशनामात्रकं
विदन्निति न शङ्कते परिमितेऽप्युपाये बुधः।।

महाप्रकाशवपु परमेश्वर में षट्त्रिंशत् तत्त्वरूप समस्त विश्व विश्रान्त होकर भासमान होता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में स्वीकृत ३६ तत्त्व निम्नलिखित हैं–

१. शिव	२. शक्ति	३. सदाशिव
४. ईश्वर	५. शुद्धविद्या	६. माया

७. कला	८. विद्या	९. राग
१०. काल	११. नियति	१२. पुरुष
१३. प्रकृति	१४. बुद्धि	१५. अहंकार
१६. मनस्	१७. श्रोत्र	१८. त्वक्
१९. चक्षुष्	२०. जिह्वा	२१. घ्राण
२२. वाक्	२३. पाणि	२४. पाद
२५. पायु	२६. उपस्थ	२७. शब्द
२७. स्पर्श	२९. रूप	३०. रस
३१. गन्ध	३२. आकाश	३३. वायु
३४. वह्नि	३५. सलिल	३६. भूमि।

यत्तु सर्वविभागात्म स्वतन्त्रं बोधसुन्दरम्।
सप्तत्रिंशं तु तत्प्राहुस्तत्त्वं परशिवाभिधम्।।

अन्तर्भावक्रम को अपनाने से संक्षिप्तरूप में व्यवहार करने हेतु शास्त्रों में तत्त्वों की संख्यामात्र में मतभेद उपलब्ध होता है। यथा समस्त तत्त्वों का अन्तर्भाव शिवतत्त्व में किया जाता है। फलत: एक ही शिवतत्त्व स्वीकारा जाता है।

"एकं त्वशेषविश्वादि शिवतत्त्वमुरीकृतम्।"

किसी स्थल में तत्त्वों की संख्या तीन बतलाई गई है नर, शक्ति और शिव अथवा आत्मा विद्या और शिव। इन तीन तत्त्वों में ही शेष तत्त्वों का अन्तर्भाव होने से तीन तत्त्वों की ही परिकल्पना की गई है।

नरशक्तिशिवाख्यानि नृस्थाने भुवनं क्वचित्।

\+ \+ \+

आत्मा विद्या शिवश्चापि तत्त्वत्रयमुदीरितम्।

अन्यत्र अन्तर्भावक्रम से तत्त्वों की संख्या पाँच बतलायी गई है– पृथिवी, जल, तेजस्, वायु और आकाश। जिस प्रकार निवृत्ति प्रभृति पाँच कलाएँ सम्पूर्ण विश्व को अपने अन्दर समेट रखी हैं उसी प्रकार उपर्युक्त पाँच तत्त्व समस्त विश्व को गर्भस्थ रखते हैं।

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव हि।
निवृत्त्यादिकलावद् वा विश्वव्यापीनि पंच वै।।

इसी प्रकार किसी स्थल में तत्त्वों की संख्या नौ बतलायी गई है– प्रकृति, पुरुष, काल, नियति, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव।

प्रकृतिः पुरुषश्चैव कालो नियतिरेव च।
माया विद्या तथैवेशः सदाशिवः शिवो नव।।

उपर्युक्त नौ तत्त्वों के साथ निम्नलिखित नौ तत्त्वों का योग कर अट्ठारह तत्त्वों का भी उल्लेख शास्त्र में दृष्टिगोचर होता है–

पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश (पंचभूत), शुद्धविद्या, शक्ति, राग और कला।

भूतानि पंच सद्विधा शक्ती रागः कलायथा।
नवैतानि नवोक्तानि भवन्त्यष्टादशान्यपि।।

शात्र में ३६ तत्त्वों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उपर्युक्त अट्ठारह तत्त्वों के साथ निम्नलिखित अट्ठारह तत्त्वों के नाम इस प्रकार हैं–

पंचतन्मात्र– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।
पंचज्ञानेन्द्रिय– श्रोत्र, त्वक्, चक्षुष्, रसन, घ्राण।
पंचकर्मेन्द्रिय– वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ
अन्तःकरणत्रय– मनस्, अहंकार, बुद्धि

सूक्ष्माः शब्दादयः पंच ये च तन्मात्रगोचराः।
ज्ञानकर्मेन्द्रियगणो मनोऽहंकारबुद्धयः।।
इत्यष्टादशभिः सार्धं षट्त्रिंशच्च भवन्त्यपि।

पुराकाल में आगम का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। संस्कृत वाङ्मय की निगमविधा की भाँति आगमविधा नितान्त विस्तृत थी। आगम-विधा का प्राण "संवाद" है। शिवाशिव का वात्सल्य–पूर्ण अनुग्रह हमारी विकस्वरता को प्रकाशित करता है। परमेश्वर की सृष्टि में कृशता एवम् पुष्टि का तारतम्य, सन्तुलन को बनाये रखता है। आचार्य सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, क्षेमराज, जयरथ, वसुगुप्त, रामकण्ठ, महेश्वरानन्द, पुण्यानन्द आदि के समय में अत्यन्त पल्लवित, पुष्पित तथा फलित विस्तृत तन्त्रागम-वाङ्मय अपने सम्पूर्ण वर्चस्व के साथ उल्लसित हो रहा था।

वर्षाकाल में सम्पुष्ट गंगा-प्रवाह अपने असीम रूप के प्रति उन्मुख होता हुआ, नियत परिधि को लाँघता हुआ, पास–पड़ोस के विस्तृत उन्नत भूभाग को आक्रान्त कर अपने उत्कर्ष को परिलक्षित कराता है। वही प्रवाह निदाघ काल में अपनी क्षीण काया को देख–देख नम्रमुख एवम् विगलित–तरंग होकर शनैः शनैः गतिमान् रहकर अपनी जीवनी को अत्यन्त सचेष्ट रहकर सुरक्षित रखने का प्रयास करता है।

उदाहरण के तौर पर यदि हम पाणिनीय व्याकरण को लें तो हमें यह बात स्पष्टरूप से दिखाई देगी कि पाणिनिमुनि की रचना सूत्रात्मक है, संक्षिप्त है किन्तु सारवान् एवम् विश्वतोमुख है। वह विपुलकाय नहीं है पर, गर्भित–सर्वस्व है और नितान्त ओजस्वी है। पश्चाद्वर्ती कालखण्डों में वार्तिक, वृत्ति, महाभाष्य, वाक्यपदीय, टीकाग्रन्थ एवम् विविध प्रकरणग्रन्थों का विशाल वाङ्मय, वस्तुतः पाणिनीय सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि एवम् लिंगानुशासन की विशदव्याख्या के अतिरिक्त अणुमात्र भी अधिक प्रस्तुत नहीं करता। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाणिनि के रचनाकाल का वैशिष्ट्य ही कात्यायन, पतञ्जलि, हरदत्त, भर्तृहरि, कैयट, नागेश, भट्टोजि, वरदराज आदि परवर्ती रचनाकाल तक विशदरूप में व्याख्यायित होता है। दोनों कालखण्डों में मौलिक प्रतिपाद्य का ईषन्मात्र भी न्यूनाधिकभाव विद्यमान नहीं होता केवल वाङ्मय की सूत्रात्मकता और

व्याख्यात्मकता दृष्टिगोचर होती है। यदि हम शताब्दियों के स्तर से कालखण्ड की रूपरेखा पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं कि सदाशिव से आरम्भ होने वाली अनादिसिद्ध आगमविद्या की परम्परा गंगाप्रवाह की तरह कभी विपुलकाय होती है तो कभी सूक्ष्मकाय किन्तु उसकी अन्तश्चेतना किञ्चिन्मात्र भी न क्षीण होती है न पुष्ट।

इसी क्रम में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही बिखरे हुए 'आगमवाङ्मय' का संग्रह प्रारम्भ हो उठता है। आगम के द्विविध पक्ष **ऐतिह्य** एवम् **प्रमेय** की विवेचना शुरू हो जाती है। भास्कर राय अमृतवाग्भव और महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज अग्रणी होकर तन्त्रागम वाङ्मय का परिशीलन प्रारम्भ करते हैं। तदनन्तर भारतवर्ष अपने स्वातन्त्र्य के लिये जिस अदम्य उत्साह और जोश-खरोश के साथ मचल उठता है उससे भी कहीं अधिक आत्मबल के साथ काश्मीर की भूमि में सुमेरु की ऊँचाई को प्राप्त त्रिकदर्शन का स्वातन्त्र्य, स्वात्ममहेश्वर की प्रत्यभिज्ञा हेतु मचल उठता है। मिथिला की पुण्यभूमि में प्रशस्त, विश्रुत ब्राह्मणकुल में उत्पन्न शिवावतार महामहोपाध्याय आचार्य रामेश्वर झा अपनी कर्मभूमि श्री काशी में महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी की सत्प्रेरणा से सम्पूर्ण त्रिक दर्शन का सारसर्वस्व आत्मसात् करते हैं तथा देवाधिदेव महादेव की साक्षात् दीक्षा से निजपूर्णता के प्रत्यभिज्ञामय उल्लास से विजृम्भित हो उठते हैं। शिवेच्छा से श्रीनगर काश्मीर स्थित ईश्वराश्रम गुप्तगंगा में प्राप्त शिवात्म भाव ईश्वरस्वरूप स्वामी श्री लक्ष्मणजूदेव से शिवयोगी आचार्य रामेश्वरझा का मिलन सम्पन्न होता है और ये दोनों महाविभूतियाँ अन्योन्यगुरुभाव की स्निग्धमर्यादा में नितान्त आबद्ध हो जाती हैं। महामहोपाध्याय शिवयोगी आचार्य श्रीरामेश्वरझा अपने बाल्यकाल से ही समस्त शास्त्रों की कौलिक विद्या एवम् योगाभ्यास की निरतिशय महिमा से मण्डित होकर मिथिला, काशी, हरिद्वार, काश्मीर सहित सम्पूर्ण भारत में शिववत् आराध्य एवम् सुप्रतिष्ठित हो चुके थे।

आपके शिष्य–प्रशिष्य की परम्परा, प्रारम्भ से व्याकरण-न्याय-वेदान्त-प्रभृति शास्त्रों में प्रौढ़ पाण्डित्य को अर्जित कर न केवल भारतवर्ष में अपितु सारे विश्व में आपके कीर्तिसौरभ को विस्तारित करने लगी थी। त्रिकदर्शन के प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थों एवम् आकरग्रन्थों का पंक्तिशः अध्यापन बीसवीं शताब्दी में महामहोपाध्याय आचार्य झाजी गुरुवर से ही प्रारम्भ भी होता है साथ ही साथ पुष्ट भी। रहस्य तो यह है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने लोकहितसम्पादनार्थ स्वातन्त्र्य-शक्ति से प्रेरित होकर आचार्य झा के विग्रह को प्राप्त किया तथा त्रिकशास्त्र को तत्कालीन विद्वन्मण्डली में अध्यापन एवम् प्रत्यभिज्ञापन के द्वारा प्रतिष्ठित किया। **पूर्णताप्रत्यभिज्ञा** एवम् **श्रीक्रमाभिज्ञापना** सदृश ग्रन्थों की रचना कर इसकी स्वाध्यायपरम्परा को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया गया।

स्वयम् अखण्ड महायोग के प्रवर्तक महामहोपाध्याय कविराज जी महाराज, शताब्दियों बाद ऐसे ग्रन्थ और ग्रन्थकार के प्राकट्य की मुक्तकण्ठ प्रशंसा तो करते ही थे साथ ही उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी होने के फलस्वरूप स्पृहणीय ग्रन्थ **"पूर्णताप्रत्यभिज्ञा"** अक्षरशः उन्हें कण्ठ थी। काशी पण्डितसभा के अध्यक्ष वयोवृद्ध गोपालशास्त्री दर्शनकेसरी, श्री राममूर्तित्रिपाठी (इन्दौर), ठाकुर जयदेवसिंह (काशी), प्रो. कमलाकर मिश्र (काशी), प्रो. लक्ष्मीनिधिशर्मा (जयपुर), प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी (काशी), प्रो. कमलेशदत्त त्रिपाठी (प्रयाग), प्रो. रुद्रधरझा (मधुवनी), श्री बालकृष्णझा (पटसा, समस्तीपुर), श्री कामेश्वरझा (पटसा), श्री भवनाथझा (पटसा), स्वर्गीय श्री रमानाथझा (पटसा), पं. श्री अमरनाथझा (पटसा), पं. श्री ज्ञानेश्वरझा (पटसा), श्री अरूणकृष्णजोशी, श्री विजयकृष्णजोशी (काशी), पं. श्री जीवेशझा (समधपुरा), श्री शोभाकान्तझा जयदेव (दरभंगा), श्री परमानन्दमिश्र (आकोपुर), पं. श्री नरेश्वरझा (पटसा), डा. रमाकान्तझा (तेतरी), श्रीमती सुषमा पण्ड्या (विलासपुर), श्रीमती प्रतिभा पण्ड्या (भोपाल), श्रीमती ज्योति दबे (अहमदाबाद) एवम्

श्रीमती निमेषा शुक्ला प्रभृति आगम के अध्येता शिष्य, आचार्य श्रीझाजी सदृश गुरु को प्राप्त कर धन्य हुए हैं।

यहाँ यह बात भी अविस्मरणीय है कि श्री लक्ष्मण जूदेव के श्रीनगर स्थित ईश्वराश्रम में रविवासरीय उपदेशक्रम में गुरुदेव श्रीझा जी एवम् श्रीमान् लक्ष्मण जूदेव जी के मध्य आगम तथा निगम विषयों की गूढ़ातिगूढ़ चर्चा होती थी, जिससे भगवती श्रीसारिकादेवी जी एवम् शैव साधिका श्रीप्रभादेवी जी के साथ-साथ आगम के अन्य अध्येता विद्वान् भी लाभान्वित होकर कृत-कृत्य होते थे।

आदरणीया प्रभा देवीजी ने सिद्धलोक से पधारे इन दोनों महापुरुषों के मध्य व्यवहृत पत्राचारों का संकलन कर रखा है जिसका "प्रकाशन", अचिर भविष्य में श्री उमेश जोशी एवम् पं. श्री जीवेश झा के द्वारा किया जा रहा है। महापुरुषों की जीवनी अत्यन्त चमत्कृत होती है; उसमें घटित होने वाली विभूतियों का सम्पूर्ण संग्रह सम्भव नहीं हो पाता है। अथापि महापुरुष के द्वारा महापुरुष के सन्दर्भ में की गई **टिप्पणी** सविशेष हुआ करती है। महामहोपाध्याय कविराज, जी से गुरुदेव झाजी काश्मीर एवम् पटसा (जन्म भूमि) जाने से पूर्व तथा इन दो जगहों से श्रीकाशी आकर उनके आवास पर जाकर मिलते थे। उन पवित्र वेलाओं में विश्वभर से समागत मनीषियों को आगमरहस्य का उद्बोधन करते हुए कविराज जी उन्मुक्तभाव से "झा जी के आने पर मैं भी श्रोता की पंक्ति में होने को मचल उठता हूँ।"—ऐसा कहकर प्रेम से गद्‌गद् होकर झा जी को सुना करते थे। समस्त शास्त्रों में गहरी पैठ रखने वाले कविराज जी शास्त्रीय ग्रन्थियों के सन्दर्भ में विशिष्ट परामर्श श्री झाजी के साथ किया करते थे।

एक बार उन्होंने व्याकरण शास्त्र में निर्विकल्पकज्ञान के स्वीकार

नहीं होने की बात को प्रमाणित करते हुए-

न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

को उद्धृत किया था। तब श्री झाजी ने इसी कारिका को '**लोके**' इस पद के स्वारस्य के आधार पर व्याकरणशास्त्र में निर्विकल्पकज्ञान की स्वीकृति को प्रमाणित कर उनके निर्णय को बदला था। इस तथ्योक्ति की चर्चा पूज्यचरण कविराज जी वर्षों तक विद्वन्मण्डली में करते अघाते नहीं थे।

सिद्धों की "**धारणा**" सामान्य जन की बुद्धि का विषय नहीं बन सकती। काशी के बाहर दो महीने से अधिक श्री झाजी की विद्यमानता में श्री कविराज जी का पत्र श्री झाजी के पास यह बताने जाता था कि- "आप शीघ्र काशी आयें। आपकी अनुपस्थिति से काशी विश्वनाथशून्य जान पड़ती है।"

सिद्धों के सन्दर्भ में की जाने वाली ऐसी चर्चा समावेश-भाव का आधान करती है और लेखनी की गति अवरुद्ध होने लगती है। बार-बार रोकी जाती हुई भी समावेश-कथा उपस्थित हो उठती है। हम पुनः प्रकृत विषय की चर्चा करेंगे। सच तो यह है कि मुख्य अर्थ का अभ्यास करने वाले साधकों के लिए यह समावेश-कथा अप्रासंगिक नहीं होगी।

संवित्स्वातन्त्र्यम् के रचयिता गुरुदेव के सन्दर्भ में **पूर्णताप्रत्यभिज्ञा** (सानुवाद) की भूमिका विशिष्ट परिचय प्रस्तुत करती है। पूर्णशिवभाव में स्थित श्री झाजी के शास्त्राध्यापन, सत्सङ्ग, समाधि आदि से अवशिष्ट समय में स्वच्छन्द भाव से निःसृत छन्दोमयी वाणी, निजानन्द की विच्छित्तियों (चमत्कारों) से लवालव भरी है। ऐसे पाँच सहस्र श्लोक श्रीगुरुदेव की दैनन्दिनियों में सुरक्षित है,

''संवित्स्वातन्त्र्यम्'' उनसे गृहीत प्रायः पाँच सौ श्लोकों का संग्रह है। तन्त्रागम विद्या के विश्व-प्रभावी माहात्म्य के द्रष्टा मनीषी आदरणीय आचार्य व्रजवल्लभद्विवेदी स्वर्गीय रङ्गेश्वरजोशी एवम् आचार्य कमलेशदत्तत्रिपाठी महामहोपाध्याय श्री झाजी के आभामण्डल से अत्यन्त उल्लसित होकर गुरुदेव श्री झाजी की **संवित्स्वातन्त्र्यम्** प्रभृति शेष रचनाओं के प्रकाशन हेतु कृत-संकल्प रहे हैं। फलस्वरूप यह ग्रन्थरत्न आज पाठकों के करकमलों में प्राप्त होने की स्थिति में आ गया है।

श्रीगुरुकृपाभाजन प्राप्तशिवतादात्म्य श्री अरुणकृष्ण जोशी एवम् श्रीविजयकृष्ण जोशी के उत्साहवर्धन से इस ग्रन्थरत्न ''संवित्स्वातन्त्र्यम्'' को अनुवादित कर पुण्यश्लोक अवाप्तशिवसायुज्य, म.म. आचार्य रामेश्वर झा जी के पावन कर-कमलों में समर्पित करता हूँ।

दिव्याय देवाय दिगम्बराय नित्याय शुद्धाय महेश्वराय।
रामेश्वरायाखिलविग्रहाय स्वात्मैव रोचेत शिवस्वरूपः॥

इस ग्रन्थरत्न के सम्पादन में पं० श्री जीवेशझा, श्रीनिहारपुरोहित, श्री उमेशजोशी, श्री दुर्गानाथभारद्वाज, कुमारी भुवनेश्वरी, सिद्धिदात्री तथा ललितेश्वरी के वैचारिक एवम् बौद्धिक सहयोग सर्वथा अविस्मरणीय हैं। श्री जीवेशझा ने सम्पूर्ण ग्रन्थ का सूक्ष्मता से प्रूफ संशोधन एवम् सम्पादन का कार्य भी किया है। इन लोगों को हम धन्यवाद के साथ कृतज्ञता से मण्डित करते हैं।

स्तुतो देवैः सर्वैर्विविधवचसाभीष्टनिरतैस्-
तथाभ्रान्तैर्लोकैः सुखमभिलषद्भिश्च बहुधा।
स्तुतिव्याजैः शम्भुर्बत निजकृतौ तैस्तु निहितस्-
त्वहं सेवे देवं वरदवरवाञ्छाविरहितः॥

-डॉ० कमलेशझा

श्री:

संवित्स्वातन्त्र्यम्

संविदेका भगवती नित्या भाति विकस्वरा।

सर्वानन्दप्रदा स्वच्छा प्रलयोद्भवकारिका।। १ ।।

संविद् शिवस्वरूपा, शिव से अभिन्ना शक्ति है। यह एक है, सर्वैश्वर्यशालिनी है, शाश्वत है। विभिन्न रूपों में प्रथित होने से यह विकस्वरा कहलाती है। सारे प्राणी को आनन्द प्रदान करने वाली यह संविद् अत्यन्त स्वच्छ है। सम्पूर्ण सृष्टि का प्रलय एवम् उद्भव संविद् के ही अधीन है।। १ ।।

स्वयम्प्रकाशमानेयं संविदेका विभासते।

भासन्ते विषयास्तत्र भिन्नाभिन्नात्मका अमी।। २ ।।

यह संविद् स्वयम्प्रकाश है, स्वात्ममहेश्वर का सतत संस्फुरण है, इसमें संशय अथवा विपर्यय की कोई सम्भावना नहीं होती। किसी भी व्यक्ति को 'अहं नास्मि' (मैं नहीं हूँ) ऐसा विपरीत बोध नहीं होता एवम् 'अहमस्मि न वा' (मैं हूँ या नहीं हूँ?)– ऐसा संशय नहीं होता। प्रत्युत 'अहमस्मि', (मैं हूँ) 'अहं भूयासम्', (मैं बना रहूँ) 'मा न भूवम्' (ऐसा नहीं कि मैं न होऊँ) ऐसा निश्चयात्मक बोध होता है। अत: परमप्रेमास्पद संविद् एक है, अखण्ड है और कभी भी इसका स्वरूप अप्रकाशित नहीं होता। इस संविद् में ही सारे विषय इदम् (यह) रूप से भासित होते हैं। विषयों में आपस में भेद होता है किन्तु सारे विषय संविद् से अभिन्न होते हैं, क्योंकि संविद् से पृथक् विषयों का अस्तित्व सम्भव नहीं है।। २ ।।

अवस्था परमा ह्येषा भासमानान्यभासिका।
शिवब्रह्मादिजननी नित्यानन्दस्वरूपिका।। ३।।

स्वात्ममहेश्वर की जगद्रूपता अस्थिर अवस्था है और संविद्रूपता परमावस्था है। यह सहजभाव से भासित होती रहती है और इसी के द्वारा विच्छिन्नरूपों का अवभासन होता है। सृष्टिकर्ता, संहारकर्ता एवं पालनकर्ता के रूप में संकोच का प्रकाशन करने वाली यह शक्ति भावमात्र की जननी है और नित्य है। यह परमानन्दस्वरूपा है।। ३।।

परमानन्दसन्दोहे त्वयि प्रेमास्तु मे प्रभो!।
अव्यक्तेऽव्यक्तरूपस्य नित्ये नित्यस्य सर्वदा।। ४।।

हे प्रभो! आप परमानन्द चिद्घन हो। आप में ही मेरा परिपूर्ण अनुराग हो। आप अव्यक्तस्वरूप अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म हो और मैं स्थूलदेहादि का अभिमानी होने से व्यक्त हूँ। आप शाश्वत नित्य हो और मैं भी आपसे अपृथक् होने से नित्य ही हूँ अत: अपने स्वरूप में स्वाभाविक अनुराग होना अत्यन्त स्वाभाविक व श्रेयस्कर है।। ४।।

परिच्छिन्नस्वरूपस्य परिच्छिन्नस्वरूपिणि।
प्रेमापि स्यात् परिच्छिन्नं देहालम्बिनि देहिन:।। ५।।

जो देहभाव में रहता है उसका स्वरूप सहजरूप से परिच्छेदन से युक्त होता है। उसका प्रेम परिच्छिन्न देहादि में ही आबद्ध होने के कारण निष्कलुष नहीं हो पाता अपितु परिच्छेदरूप कलंक से दूषित ही होता है।। ५।।

यत्पादस्मरणादन्यत् कार्यं यस्य न विद्यते।
नमस्तस्मै च तस्मै मे गुरवे भक्तिशालिने।। ६।।

श्रीगुरु लक्ष्मणजूदेव के पद–पाथोज स्मृति से अन्य कोई भी कार्य मेरे लिये अवशिष्ट नहीं है। हम गुरु और शिष्य धन्य हैं जो शिवात्मबोध में विचरते हैं। अत: अभेदरूप में स्थित स्वात्ममहेश्वर, गुरु एवम् शिव के अद्वयभाव को नमस्कार अर्पित हो॥ ६॥

आत्मानमव्यक्तमखण्डमेकं
भजे विभुं व्यक्तमनेकरूपम्।
रामं शिवं ब्रह्म विनायकादिं
सीतां सतीं वाचमनन्तशक्तिम्॥ ७॥

आत्मा अव्यक्त, अखण्ड, एक और व्यापक है। वह अभिव्यक्त होकर अनेक रूपों वाला हो जाता है। एक ही तत्त्व कार्यभेद से राम, शिव, ब्रह्म, विनायक आदि पुरुषरूप में और सीता, सती, सरस्वती आदि स्त्रीरूपों में भासित होता है। मैं ऐसे स्वात्ममहेश्वर की वन्दना करता हूँ॥ ७॥

शिवोऽद्वितीयो वपुषा विहीनः
स्वातन्त्र्यशक्त्या सहितोस्मि नित्यः।
स्वयम्प्रकाशात्मतया विभातोऽ-
प्यानन्दरूपः करुणावतारः॥ ८॥

शिव द्वैतवर्जित है, शरीर के परिच्छेदन से रहित है। वस्तुत: स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त शिव ही मैं हूँ, कोई अन्य नहीं। शिव स्वयंप्रकाश है, सदा भासमान है। आनन्दघनशिव अनुग्रहशक्ति की प्रधानता से करुणामूर्ति गुरु के रूप में अवतार ग्रहण करता है॥ ८॥

विश्वस्य मूलमहमस्मि निसर्गसिद्धो
निर्बोधनित्यनिरवग्रहभासमानः ।

स्वातन्त्र्यशक्तिसहितो विविधप्रपञ्चो
मार्तण्डमूर्त्तिरिह भामि मनुष्य-लोके।। ९।।

मैं सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण हूँ, स्वभाव से ही सिद्ध हूँ, किसी प्रमाण से साध्य नहीं हूँ। खण्डबोध से मेरा परिचय सम्भव नहीं है। मैं नित्य-सिद्ध हूँ और किसी की अपेक्षा के बिना ही सदा भासमान हूँ। इस मर्त्यलोक में अपनी ही स्वातन्त्र्य-शक्ति से अपने से भिन्न-रूप में और परस्पर भिन्न-रूप में विविध प्रपञ्च रूप को धारण करता हूँ और उस प्रपञ्च का प्रकाशक भी स्वयं मैं ही होता हूँ। इस प्रकार मैं मार्तण्ड-मूर्ति के रूप में भासित होता हूँ।। ९।।

सुखानुभवतः पूर्वं दुःखानुभवतः पुरा।
विनाशेऽप्येनयोर्भामि भानरूपः सदा स्थितः।। १०।।

आत्मा की पहचान अत्यन्त दुष्कर है किन्तु करुणामूर्ति गुरु, सूक्ष्म आत्मा की भी पहचान कराने हेतु युक्ति का अवलम्ब प्रदान करते हैं। हमलोगों को जो सुख या दुख की अनुभूति होती है उस अनुभूति से पूर्व या पश्चात् "मैं" की स्थिति भान (ज्ञान) के रूप में रहती है। यह भान, सुख या दुख की अनुभूति के समय भी विराजमान रहता है अतः भान ही हमारा नित्य स्थित स्वरूप है।। १०।।

सर्वोऽर्थो मयि भासते स्वजनितो जानामि कुर्वे न तं
भुञ्जे भोग्यमिदं यथागतमहं यद्भुज्यते केनचित्।
ज्ञातं ज्ञेयमनादिसत्यममलं ब्रह्म स्वभावात्मकं
किं वाञ्छामि मुहुर्मुहुः प्रतिदिनं स्वोच्छिष्टभूतं जगत्।। ११।।

सारे पदार्थ मुझ शिवात्मा में ही भासित होते हैं। मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, मैं ही उन्हें जानता हूँ, मैं उनका निर्माण तो नहीं करता परन्तु भोग्य सुख-दुःखादि रूप में उपस्थित हुए जगत् का जिस किसी प्राणी

के द्वारा भोग किया जाता है उसका वास्तविक भोक्ता अखण्ड शिव मैं ही हूँ। इदम् (यह) रूप में प्रतीत होने वाले ज्ञेय तो सादि अथवा सान्त होते हैं पर जो अनादि सत्य है, निर्मल है, ब्रह्म-स्वभाव है ऐसे उत्कृष्ट ज्ञेय स्वात्मा को भी गुरुकृपा से "सोऽहम्" प्रत्यभिज्ञा से देदीप्यमान होता हुआ मैं अपने ही उच्छिष्ट जगत् को पुनः पुनः प्राप्त करना नहीं चाहता हूँ॥११॥

मनः! सखे! त्वं मनुतामिदानीं
ममापि किञ्चित्कथनं यथाऽहम्।
अभूवमाजन्म तवानुगामी
तथा भव त्वं मम शेषवृत्तौ॥१२॥

हे मेरे मित्र मन! तुम अब मेरे कुछ कथन को भी मान जाओ जैसा मैं तुम्हारा मानता रहा हूँ। जन्म से लेकर आज तक मैं तुम्हारे पीछे चलता रहा हूँ पर गुरुकृपा से अनुगृहीत मेरे शेष जीवन में अब तुम ही मेरा अनुगामी बनो॥१२॥

अभेदैकरसे नित्ये सदसद्भ्यां विलक्षणे।
त्वयि नाभाति भेदो मे नाथ! त्वामभिजानतः[1]॥१३॥

हे नाथ! परशिव! अब मैने तुझे स्वात्मरूप में भलीभाँति पहचान लिया है। आप अखण्ड हो, एकरस हो, नित्य हो, सत् और असत् से विलक्षण हो अतएव आपमें किसी प्रकार का भेद मुझे प्रतिभासित नहीं होता॥१३॥

त्वदैक्यावगतस्यास्य त्वदभिज्ञावतो मम।
त्वदभिन्नतयैवास्तु विश्वं नाथ! निरन्तरम्॥१४॥

---

१. स्वात्मत्वेनाभिजानतः॥

हे नाथ! आपके साथ ऐक्य (अभेद) बोध मुझे हो चुका है। "मेरा वास्तविक स्वरूप तो आप ही हो" ऐसी पहचान हो जाने के अनन्तर सारा विश्व निरन्तर आपसे अभिन्न मुझे दीखे इसमें कौन सा आश्चर्य है?।।१४।।

अनन्तशक्तिसम्पन्नोऽप्यसि त्वमेकशक्तिमान्।
यथा तथा ममाप्यस्तु गीरेकैवाहमात्मिका।।१५।।

हे प्रभो! आप अनन्तशक्तिसम्पन्न होते हुए भी समस्त शक्तियों के आश्रयभूत (पुंजीभूत) एक संविद्रूप शक्ति से आलिङ्गित होते हुए देदीप्यमान होते हो। उसी तरह मेरी वाणी सुख-नीलादि बाह्याभ्यन्तर वाच्य—वाचकादि अनन्त रूपों में उल्लसित होती हुई भी अखण्ड एकरस "अहम्" (मैं) रूप में विलसित होती रहे— ऐसी कृपा बनाये रखना।।१५।।

विश्वात्मा विश्वरूपस्त्वं नीरूपोप्यसि रूपवान्।
भिन्नोऽभिन्नस्त्वमेवैको भेदो भाति न मे क्वचित्।।१६।।

हे प्रभो! इदमात्मा जगद्रूप में भासित होने वाले तुम अहमात्मा विश्वरूप शिव हो अथवा परिच्छिन्न विश्व से वास्तविक रूप से उत्तीर्ण होने पर भी तुम परिच्छिन्नरूपों को भी धारण करते हो। इस प्रकार भेदभूमि और अभेदभूमि में एक तुम ही नटराजराज भासित होते हो अतः अब मुझे किसी भी दशा में भेदवासना वासित नहीं करती।।१६।।

भेदो भात्वथवाऽभेदो न मे भेदोऽस्ति कश्चन।
सर्वं भानं भवद्रूपं भेदो भातु कथं मम।।१७।।

चाहे भेद भासित हो अथवा अभेद, मुझमें कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि समस्त भान भवद्रूप ही है। ऐसी स्थिति में भला मुझे भानस्वरूप आप शिव में भेदबन्धन का भान कैसे सम्भव है?।।१७।।

स्वात्मा सिद्धः सदैवायं ब्रह्मविश्वप्रकाशकः।
सत्येतस्मिंस्तु सिद्ध्यन्ति ब्रह्मशून्यशिवादयः॥१८॥

स्वात्ममहेश्वर सदा ही सिद्ध है अतएव साध्य नहीं हो सकता। वह एक ओर ब्रह्म को प्रकाशित करता है तो दूसरी ओर जगत् को प्रकाशित करता है। शिव की विद्यमानता अखण्ड है जिसमें ब्रह्मभान, शून्यभान, ब्रह्मा विष्णु महेश एवम् जगद्भान का अखण्ड भान चरितार्थ हुआ करता है।१८॥

विषयतामतीतोऽयं न ग्राह्यो ज्ञेय एव वा।
स्वयम्प्रकाशमानस्तु नेदृशोऽयमनीदृशः॥१९॥

स्वात्मशिव अखण्ड चिद्घन स्वात्मा है। भला वह ग्राह्य अथवा ज्ञेय कैसे हो सकता है जो अपने को विषयता से आबद्ध नहीं कर सकता। शिव तो स्वयम् प्रकाशमान सदा ही एकरस है तो उसे ईदृश (ऐसा) अथवा अनीदृश (ऐसा नहीं) की खण्डप्रतीति में विभाजित करना कथमपि सम्भव नहीं है॥१९॥

निरपेक्षप्रकाशत्वमस्यैकस्यैव तत्त्वतः।
अनात्मनस्तु सूर्यादेः परापेक्षा प्रकाशता॥ २०॥

तात्त्विक रूप से विचार करने पर यह सुस्पष्ट होता है कि एक स्वात्ममहेश्वर, अन्य की अपेक्षा किए विना प्रकाशमान है। जो अनात्मा है उसकी प्रकाशसंज्ञा परसापेक्ष है। अतएव सूर्य, चन्द्र, तारे, दीप, विद्युत् प्रभृति प्रकाश इदम् शब्द से कहे जाते हैं और परिच्छिन्न सीमा को लाँघ नहीं पाते॥ २०॥

प्रकाशमानरूपस्य स्वं शिवं त्वभिजानतः।
धन्यस्य मम सिद्धस्य किमन्यदवशिष्यते॥ २१॥

अपने आपको शिवरूप में भली-भाँति पहचानने वाले— प्रत्यभिज्ञा करने वाले प्रकाशस्वरूप धन्य एवम् सिद्ध मेरे जैसे लोगों के लिये कोई भी कर्त्तव्य, प्राप्तव्य अथवा ज्ञातव्य शेष नहीं रहता।। २१ ।।

अशेषवासनाधारचित्तसंहारकारकम् ।
त्वदनुस्मरणं नाथ! तव सायुज्यदर्शकम्।। २२।।

हे नाथ! आपकी स्मृति की दो विशेषताएँ हैं— एक तो यह कि सभी जागतिक संस्कारों (दृश्य संस्कारों) के आधारभूत चित्त का संहार हो जाता है और दूसरा आपके सायुज्य (शिवता) की प्राप्ति हो जाती है।। २२।।

स्थितः प्रकाशमानश्च सदैवासि तथाप्यहम्।
देहाभासपरिच्छेदं न्यक्कर्तुं त्वां स्मरामि च।। २३।।

हे प्रभो! तुम नित्य विद्यमान एवम् प्रकाशमान हो। आपकी विद्यमानता एवम् प्रकाशमानता के लिये किसी भी उपाय की अपेक्षा नहीं है केवल अभ्यासवशात् देह में आत्मप्रतीति की परिच्छिन्नता का अपाकरण के लिये मैं आपका ध्यान करता रहता हूँ।। २३।।

विस्मृत्य सर्वथा देहसंस्कारं त्वामुपेयुषः।
न मम स्यात् त्वदैकात्म्यलाभजं परमं सुखम्।। २४।।
त्वामनुस्मरतो नित्यं देहिनो यत्सुखं विभो?
मन्ये तल्लिप्सया सृष्ट्वा जगद् भवसि देहवान्।। २५।।

हे प्रभो! यदि सच्चे अर्थ में सम्पूर्णता के साथ देह संस्कार को सर्वथा भुला जाऊँ और तुमको प्राप्त करूँ— तुम्हें अपना स्वरूप समझ लूँ तो द्वैत में रहकर तेरे साथ अद्वैत लाभ का जो परमसुख है, उससे वञ्चित हो जाऊँगा।। २४।।

किसी भी देही को आपके स्मरण करने से जो सुख की प्राप्ति होती है, मेरी समझ से उस सुख के लोभ से ही तुम इस संसार को रचकर जीवभाव में भी प्रतिष्ठित हो जाते हो।। २५।।

लब्धत्वदेकभावस्य स्मरतस्त्वामहर्निशम्।
दिव्यमानन्दमाप्तस्य न भिदा भोगमोक्षयो:।। २६।।

महेश्वर! आपके साथ एकात्मता को प्राप्त करने के लिये केवल एक वस्तु पर्याप्त है और वह है सदा आपका ध्यान करना। इतने से ही दिव्य आनन्द की प्राप्ति आपके भक्त को होती है। उसे भोग और मोक्ष में कोई भेद नहीं दीखता है।। २६।।

अणुस्वरूप: सकलोस्ति जीवो
हृदि स्थितोऽयं परिभासमान:।
त्वयि स्थिते सर्वमिदं चकास्ति
देहादिकं व्याप्य महेश्वरे हि।। २७।।

प्रभो! प्रत्येक जीव हृत्पद्म में शाश्वत रूप से स्थित है और उसके प्रकाशन के लिये बाह्य या आभ्यन्तर उपाय की अपेक्षा नहीं है तथापि वह अणुस्वरूप में स्थित है अर्थात् जन्म, मरण एवम् कर्मफल भोग की विवशता से आबद्ध है। पर, आप महेश्वर, देहादि सकल संसृति को व्याप्त करके स्थित हो और सारा जगत् आपसे ही भासित हो रहा है। यही भेद जीव और ईश्वर में आपातत: स्थित है।। २७।।

अभिव्याप्य सर्वं महतो महान् य:
स्थितो देव एक: करुणासमुद्र:।
स एवास्म्यहं नास्मि ततो विभिन्नो
यतो नास्ति किञ्चिद्धि ततो विभिन्न:।। २८।।

करुणासागर महेश्वर महान् से भी महान् है और सारे जगत् को व्याप्त कर स्थित है, वही मैं भी हूँ। उनसे भिन्न मैं भी नहीं हो सकता क्योंकि उनसे भिन्न कोई नहीं होता।। २८।।

पश्यद्भिर्निजशक्तिजातमखिलं व्यस्तं समस्तं जगद्
भुञ्जानैरपि नित्यमेव विषयं प्राप्तं पुनर्नूतनम्।
जानद्भिः स्थिरमस्थिरं निजसुखं भोगोद्भवं लौकिकं
लब्धश्रीगुरुपाददर्शनफलैर्विश्वात्मना स्थीयते।। २९।।

धन्य वो हैं, जिनके अन्तःकरण श्री गुरु चरण-कमल के दर्शन से चमत्कृत हो उठे हैं। ऐसे साधक व्यस्त एवम् समस्त जगत् को अपनी ही शक्ति से उत्पन्न हुआ देखते हैं। स्वतः उपस्थित भोग्य विषय को जो पुनः पुनः नूतन रूप धारण करता है उनका भोग अनासक्त भाव से करते रहते हैं किन्तु उन्हें यह विवेक रहता है कि भोग से प्राप्त होने वाला लौकिक सुख अस्थिर होता है जबकि स्वात्मसुख स्थिर एवम् निरतिशय होता है। अतएव गुरु से अनुगृहीत धन्य-जन विश्वात्मरूप से स्थित रहते हैं।। २९।।

ये धन्याः समुपागतास्तु भुवने लोकान् समुद्धारकाः
श्रद्धाराधितदेवतागुरुकृपाभिज्ञाततत्त्वाः शिवाः।
तेषां शुद्धचिदेकविग्रहवतां भूमण्डलस्थायिनां
नैजानन्दनिमग्नमानसवतां नास्त्येव दुःखं सुखम्।। ३०।।

सिद्धगण उद्धारपरायण होते हैं, मृत्युभुवन में इसी के लिये उनका आना होता है। श्रद्धेय दिव्य गुरु की आराधना से प्राप्त प्रत्यभिज्ञा द्वारा शुद्धचिति में प्रतिष्ठित होते हैं। इन्हें (स्वात्मानन्द में निमग्न रहने वालों को) दुःख या सुख (लौकिक) आबद्ध नहीं कर पाते।। ३०।।

एकोऽप्यहं विश्वमयोऽस्म्यनन्तः
कालादिकीटान्त-विभासमानः।
न मेऽस्त्यवाप्यं न च हेयमेव
स्पन्दात्मिका शक्तिरियं हि स्रष्ट्री।। ३१।।

यद्यपि मैं एक हूँ तथापि विश्वमय हूँ, अनन्त हूँ, काल से लेकर कीटपर्यन्त सब का शासक हूँ, मेरे लिये कुछ भी न तो प्राप्य है और न त्याज्य है। स्पन्द नाम वाली मुझसे अभिन्न मेरी शक्ति भावाभावात्मक सम्पूर्ण जगत् की विसर्ग—सृष्टि से उल्लसित होती रहती है।। ३१।।

स्वात्मान्वेषण विक्रियाविरहितः स्वस्मिंश्च तिष्ठन् स्थिरश्
चिन्ताशून्यमनाः सदैव निखिलव्यापारशून्योस्म्यहम्।
बोधाबोधविकल्पकल्मषमरुर्दिग्देशकालाद् बहिर्
निर्बोधोस्मि निरञ्जनोस्मि सहजानन्दाम्बुधिश्चेतनः।। ३२।।

स्वात्मा का अन्वेषण करना एक विकार है और उस विकार से मैं रहित हूँ। अपने स्वरूप में स्थित रहने से मैं स्थिर हूँ अतएव मेरा मानस चिन्तावर्जित है। मैं आसक्तिपूर्ण समस्त व्यापार से ऊपर उठा हुआ हूँ। बोध और अबोध स्वरूप विकल्प का कल्मष मुझमें बीजप्ररोह नहीं कर पाते। मैं दिग्देशकाल से उत्तीर्ण हूँ, परिच्छिन्न बोध से अनाबद्ध हूँ, निरंजन हूँ तथा सहजानन्द का चिन्मय—सागर हूँ।। ३२।।

स्वात्मरूपन्तु मे यद्धि स्वप्रकाशविमर्शनम्।
अनन्यापेक्षकं तद्धि चित्तत्त्वं परिकीर्तितम्।। ३३।।

चित् तत्त्व स्वात्मस्वरूप है, स्वयम् प्रकाश है, स्व का विमर्शक है एवम् अन्यापेक्षविरही है।। ३३।।

उपपन्नं ततस्तस्याऽऽभासनं यत्नमन्तरा।
तदभिन्ना यतो भावास्ततस्तेऽपि विभान्ति हि।। ३४।।

अत: चित् तत्त्व का प्रकाशन प्रयास के विना ही उपपन्न होता है। यतश्च समस्त भाव चिति से अभिन्न हैं अत: वे भी भासित हों इसमें कौन सा वैगुण्य है?।। ३४।।

भवेयुर्यदि भावा न प्रकाशाभेदभागिन:।
अप्रकाशत्वतस्तेषां भवेन्नैव प्रकाशनम्।। ३५।।

यदि भावपदार्थ प्रकाश से अभिन्न न हों तब अप्रकाश कहलाएगें और अप्रकाश का प्रकाशन कथमपि सम्भव नहीं हो सकता।। ३५।।

मयि प्रकाशमाने हि विश्वं याति प्रकाशताम्।
प्रकाशमाने विश्वेऽस्मिन्नहमेमि प्रकाशताम्।। ३६।।

मेरी प्रकाशमानता में विश्व की प्रकाशमानता है तथा विश्व की प्रकाशमानता में मैं ही तो प्रकाशित होता हूँ क्योंकि मेरे विना विश्व का प्रकाशन सम्भव ही नहीं है।। ३६।।

मया विना न विश्वं हि नाहं विश्वं विना तथा।
अविनाभावसम्बन्ध: सदा विश्वचिदात्मनो:।। ३७।।

मेरे विना विश्व नहीं और विश्व के विना मैं नहीं हो सकता अत: मेरे और विश्व के मध्य अविनाभाव सम्बन्ध अर्थात् एक के विना दूसरे का नहीं होना है।। ३७।।

अहमर्थ: शिवो नित्य: परं ब्रह्म स उच्यते।
नित्यं प्रकाशमानोस्मि नित्यं विश्वावभासक:।। ३८।।

अहमर्थ शिव है, नित्य है, वही परमब्रह्म कहलाता है, अहमर्थ मैं सदा प्रकाशमान हूँ तथा सम्पूर्ण विश्व का अवभासक हूँ।। ३८।।

अलक्ष्यं व्यापकं पूर्णमानन्दघनमक्रियम्।
जानन् भजाम्यहं देवं राममात्मानमव्ययम्।। ३९।।

मैं स्वात्मा को समस्त लक्षणों से वर्जित, व्यापक, पूर्ण, आनन्दघन, निष्क्रिय तथा अव्ययरूप में जानता हूँ अतएव रामस्वरूप में उन्हें भजता हूँ।। ३९।।

अखण्डं मे चिदानन्दरूपं नित्यं चकास्ति यत्।
अनुपश्यंस्तदेवाहमस्मि पूर्णो विभुः स्वराट्।। ४०।।

मेरा स्वरूप चिन्मय एवम् आनन्दमय है, सदा ही अखण्ड रूप में विभासमान है, उसका ही अनुभव करता हुआ मैं परिपूर्ण, विभु और स्वयम्प्रकाशमान हूँ।। ४०।।

कृतकृत्योस्मि पूर्णोस्मि विश्रान्तः स्वात्मनात्मनि।
संसरन्नपि देहस्थो मोहमग्नो भवामि न।। ४१।।

स्वयम् में स्वयम् ही विश्रान्त होने से मैं पूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, देह में स्थित होकर संसारी बनता हुआ भी मैं मोह में डूबता नहीं हूँ।। ४१।।

चिदानन्दरूपोस्मि मुक्तः सदाहं
चिदानन्दमग्नोस्ति देहः सदा मे।
चिदानन्दजातं विभातीव विश्वं
चिदानन्दभिन्नं न किञ्चिद् विभाति।। ४२।।

मैं चिदानन्दरूप होने से सदा मुक्त हूँ और मेरा देह भी आनन्दसागर में निमज्जित रहता है। और तो और सारा विश्व चिदानन्द से उत्पन्न हुआ ही मुझे दीखता है। अतएव मुझे कुछ भी चिदानन्द से भिन्न प्रतीत नहीं होता।। ४२।।

यद्वाञ्छामि मुहुर्मुहुश्च भवितुं ज्ञातुं यतेऽहं च यद्।
गाढ़ं गाढ़मुपाहरामि सततं पूर्त्यै च यद्विभ्रमात्।
तत्सर्वं स्वविकल्पजालमधुना हित्वा स्वरूपं निजं
शान्तं शश्वदुपैमि बोधममलं सत्यं शिवं सुन्दरम्।। ४३।।

मैं पुनः पुनः जो कुछ बनना चाहता हूँ, जो कुछ जानना चाहता हूँ और भ्रान्ति से ही अपने अभिलाष की पूर्ति हेतु जिस किसी वस्तु का अत्यन्त गाढता से स्वीकार करता हूँ, वह सबके सब हमारे विकल्प से अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। सम्प्रति मैं स्वविकल्पमय समस्त प्रयत्न का परित्याग कर शान्त एवम् शाश्वत निज स्वरूप में विश्रान्त होता हूँ जो विमर्शमय प्रकाशस्वरूप है, अमल है, सत्य है, शिव है तथा सुन्दर है।। ४३।।

यत्पश्यामि पुनः पुनः प्रतिदिनं बोद्धुं यतेऽहं च यद्
आदानक्रिययाऽऽकलय्य यदहो स्थातुं चिरंचेष्टये।
तत्सर्वं स्वविकल्पदर्शितमिदं स्वल्पं विनाशोन्मुखं
हित्वात्मानमुपैमि शान्तममलं नित्यं स्थितं निष्क्रियम्।। ४४।।

प्रतिदिन पुनः पुनः जो कुछ अनुभव हम करते हैं अथवा जो कुछ समझने के लिये प्रयत्न करते हैं अथ च किसी वस्तु को प्राप्त कर बहुत देर तक उसी भाव में स्थिर रहने की चेष्टा करते हैं, ये सब के सब हमारे विकल्प मुकुर में प्रतिबिम्बित होने वाले अत्यन्त परिच्छिन्न एवम् विनाशी है अतः इनकी उपेक्षा करके शान्त अमल निष्क्रिय, परिपूर्णतया स्थित स्वात्ममेहश्वरभाव में हम विश्रान्त होते हैं।। ४४।।

एकाधिका षष्टिरियं व्यतीताऽ-
वस्था मदीयाऽधिगता च संवित्।

दृष्टा न सा क्वापि कदापि शान्ति-
र्यातेऽमृतस्यन्दिनि नाम्नि[२] लब्धा।। ४५।।

शिवयोगी अपनी गाढ़ी अनुभूति को प्रकट करते हुए कहते हैं कि मेरी उम्र ६१ वर्ष की हो गई है और गुरुकृपा से हमनें संवित् तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है किन्तु कभी भी किसी वस्तु में वह शान्ति नहीं देखी जो प्रभु के अमृतवर्षी-नाम में प्राप्त हुई। अथवा प्रभु के अमृतवर्षी-संविद्धाम में प्राप्त हुई।। ४५।।

यद्यद्भाति मयि प्रकाशवपुषि स्वच्छे स्वतन्त्रेऽद्वये
तत्तद्रूपतया विभामि सततं देहात्मना संस्फुरन्।
हित्वा कालकलाकृतेस्तु कलनां तिष्ठन् स्वरूपे निजे
सर्वाधारतमोऽथ सर्वरहितो भासे महिम्नि स्थितः।। ४६।।

प्रकाशात्मा, अद्वय, स्वच्छ एवम् स्वतन्त्र मुझ स्वात्ममहेश्वर में जो कुछ भासित होता है उन सारे रूपों से देहात्मना संस्थित मैं ही भासित होता हूँ परन्तु कालकृत आकृति की समस्त कलनाओं का परित्याग कर स्वस्वभाव में स्थित होता हुआ मैं सर्वाधार और सर्वोत्तीर्ण रूप से (अद्वय शिवस्वरूप से) भासित होता हूँ।। ४६।।

देहो नास्मि न चास्मि माननिवहः शून्योपि नैवास्म्यहं
निर्बोधोस्मि निरञ्जनोस्मि नितरां सिद्धोस्मि साध्यो नहि।
शश्वच्छान्तिसमावृतोस्मि नियतिव्यापारदूरे स्थितः
पूर्णः पूर्णकलाभिहारनिरतः स्वच्छोस्मि निर्वासनः।। ४७।।

न तो मैं स्थूलदेह-स्वरूप हूँ, न इन्द्रियसमूह हूँ, न ही शून्यस्वरूप हूँ। मैं तो परिच्छिन्न बोध से परे हूँ, नित्यनिरञ्जन हूँ, शाश्वत सिद्ध हूँ,

---

२. धाम्नि।

साध्य नहीं हूँ, नित्यसिद्ध शान्ति से परिपूर्ण मैं नियति के परिच्छेदमयव्यापार से अनाबद्ध हूँ, मैं नित्य परिपूर्ण पूर्णकलामय, वासनोत्तीर्ण एवम् निर्मल हूँ।। ४७।।

अस्म्येव यदहं नित्यं तद्भवन् भामि सर्वदा।
शिवशक्त्यात्मको देवः स्थिरो नित्योऽहमद्वयः[३] ।। ४८।।

जो मैं शाश्वत रूप से वर्त्तमान हूँ वही पुत्र,मित्र, खिलाड़ी आदि रूपों में भासित होता हूँ। परिवर्तित रूपों में होता हुआ भी मैं अव्यय, नित्य स्थिर, प्रकाश- विमर्शमयस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता हूँ।। ४८।।

केचित् त्वामनिशं स्मरन्ति हृदये रामादिरूपं विभुं
केचिज्ज्योतिरुपासते च सततं शान्तं परं चिन्निभम्।
अन्ये ब्रह्म परं विदन्ति विषयव्यापारचित्तास्त्वहं
देव! त्वामिह नित्यमेकमनघं पश्यामि सर्वात्मकम्।। ४९।।

हे प्रभो! कुछ लोग तुम्हें राम कृष्ण आदि रूप से सदा हृदय में धारण करते हैं, दूसरे लोग शान्तब्रह्म स्वरूप परज्योति की उपासना करते हैं और कुछ अन्य लोग विषय में व्यापारित चित्त वाले आप को परब्रह्म के रूप में जानते हैं पर मैं तो तुझे एक अनघ नित्य सर्वात्मा के रूप में देखता हूँ।। ४९।।

विभाति यद् यत्तदहं विभामि
विभाम्यहं यत् तदिदं विभाति।
विच्छिद्य भानं यदिदन्तया तद्
विश्रान्तिमभ्येति मयि प्रकाशे।। ५०।।

सारा परिच्छेदमय भान भी मेरी ही भासमानता है और जो मेरी

३. मव्ययः।

भासमानता है वही इदम् (यह) भान है क्योंकि इदन्तारूप से परिच्छेदमय सकलभान प्रकाश-विमर्शमय मुझ स्वात्ममहेश्वर में ही विश्रान्त होता है।। ५०।।

आत्मा यत्रात्मनैवायं सर्वरूपेण भासते।
उपादेयञ्च किं तत्र हेयमेवाथवा भवेत्।। ५१।।
भूमिर्जलं तथा वह्निर्वायुराकाश एव च।
इति पञ्चतयीदन्ता भाति षष्ठोऽस्म्यहं शिवः।। ५२।।

जिस प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय में आत्मा स्वयम् सर्वरूप में भासित हो रहा हो वहाँ किसका स्वीकार और किसका वर्जन सम्भव हो सकता है? समस्त इदन्ता को हम ५ भागों में बाँट सकते हैं- भूमि, जल, वह्नि, वायु और आकाश, इन सबों का प्रकाशक शिव, मैं षष्ठ होता हूँ।। ५१-५२।।

असन्निवृत्तिं सदवाप्तिकामं
करोमि नाहं निजलाभतुष्टः।
न सन्न चासन्निजरूपमाद्यं
विकल्पकल्लोललयाधिगम्यम्।। ५३।।

निजात्मलाभ से सन्तुष्ट मैं न तो असद्बुद्धि से निवृत्ति की कामना करता हूँ और न ही सद्बुद्धि से प्रवृत्ति की कामना करता हूँ। स्वात्मा न सत् है न असत् है वह तो इन दोनों के पहले से स्थित है और विकल्प के तरंगों के विलय के अधिष्ठान के रूप में अनुभव करने योग्य है।। ५३।।

शिवोऽविकल्पितः स्वच्छः सर्वभावसुनिर्भरः।
स्वात्मा मुक्तस्य मुक्तोपि शिव एवास्त्यसंशयम्।। ५४।।

शिव विकल्प से परे है, स्वच्छ है, सम्पूर्ण विश्व रूप वैभव वाला है और मुक्त योगियों के द्वारा स्वात्म रूप में पहचाना जाता है। संशय रहित प्रत्यभिज्ञा– सिद्धान्त है कि– मुक्त योगी शिव से अभिन्न होते हैं।। ५४।।

उद्धूयोद्धूय भासन्ते शक्तयो विविधा मम।
ताभिः किं विक्रियामेमि स्वोर्मिभिश्च सुधाम्बुधिः।। ५५।।

जैसे सागर की जलराशि से बारबार उछलकर भासित होते हुए तरंग जलराशि को विकृत नहीं करते उसी तरह आनन्दसागर स्वात्ममहेश्वर अनंत विविध शक्तियों के उल्लासन एवम् भासन करता हुआ भी उनसे अपने को विकृत नहीं करता अपितु अपनी मर्यादा को ही धारण करता है।। ५५।।

चिदानन्दस्वरूपस्य स्पन्दमानस्य सर्वदा।
सर्वतत्त्वस्वरूपेण स्पन्द एव विभात्ययम्।। ५६।।

चिदानन्दरूप शिव सर्वदा विमर्शमय स्वभाव में स्थित रहता है। प्रभु का स्पन्द ही शिवतत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्त्वपर्यन्त समस्त रूप में भासित होता है।। ५६।।

ज्ञातं येन निजं रूपं भावाभावादिजन्मदम्।
स स्वस्मिन्नुद्गतं विश्वं पश्यन् हृष्यति सर्वतः।। ५७।।

समस्त भाव और अभाव रूप में फैलने वाले वस्तुओं को जन्मदेने वाला मैं हूँ ऐसा जिसने भलीभाँति जान लिया है वह अपने स्वरूप में जन्मलेने वाले समस्त विश्वप्रपञ्च को देखता हुआ सर्वतोविसारि (प्रसरणशील) हर्ष से परिपुष्ट होता रहता है।। ५७।।

अविरम्य स्फुरद्रूपे नित्यपूर्णेऽहमात्मनि।
मय्यनिदन्तया भाते भाति सर्वमिदन्तया।। ५८।।

स्वात्म-शिव की स्फुरत्ता अर्थात् विमर्शशालिता में कोई विराम नहीं लग सकता। वह सदा ही परिपूर्ण है कभी भी इदम् रूप में भासित नहीं होता है। महिमामण्डित शिव में सारा विश्व भासित होता है।। ५८।।

यद् यद् भाति परिच्छिन्नं बाह्यं वाथ मनोगतम्।
तत्सर्वं भासकत्वेनाहमेवास्मि पुरा स्थितः।। ५९।।

मन के अंदर या बाहर परिच्छिन्न रूप में भासित होने वाली कोई भी वस्तु क्यों न हो उसका भासक होने के कारण उस प्रत्येक वस्तु से पहले से मेरी स्थिति सुनिश्चित है, इसमें संशय की कौन सी बात हो सकती है।। ५९।।

किंनास्मि चाहं किल कोस्म्यहं न
कोऽहं न वाहं न मम क्रिया का।
भुञ्जे न किं वा न विकल्पयामि
नाधारभूतोस्मि च कस्य कस्य।। ६०।।

भासक होने से, भासित होने वाली कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मैं नहीं हूँ क्योंकि प्रत्येक वस्तु का भासक मैं हूँ इसलिए कोई भी ऐसा भासक नहीं जो मुझ से भिन्न हो और कौन सी ऐसी क्रिया है जो मेरी क्रिया नहीं? किसी भी भोग और विकल्प का कर्त्तृत्व मुझमें ही हैं, इस प्रकार समस्त विश्व का आधार मैं ही हूँ।। ६०।।

आत्मानात्मस्वरूपोऽहमपि जीवज्जडात्मकः।
भासकश्चापि भास्यात्मा जन्ममृत्युविवर्जितः।। ६१।।

मैं ही आत्मस्वरूप भी हूँ, अनात्मस्वरूप भी हूँ, जीव भी हूँ, जड़ भी हूँ, भासित होने वाली सभी वस्तुओं की आत्मा हूँ क्योंकि मैं भासक हूँ। भासक कभी भी जन्म और मृत्यु के बन्धन में बाँधा

नहीं जा सकता क्योंकि जन्म और मृत्यु भासक के अधीन हैं न कि भासक के स्वामी।। ६१ ।।

अत्युत्तमश्चाप्यधमोहमेव

महान् यशस्वी च कलङ्कयुक्तः।

सर्वात्मकत्वादहमस्मि सर्व

एकोऽप्यनेकोस्मि विभासमानः।। ६२ ।।

अत्युत्तम भी मैं ही हूँ और अधम भी मैं ही हूँ। महान् भी मैं ही हूँ, यशस्वी भी मैं ही हूँ और कलंकयुक्त भी मैं ही हूँ। सर्वात्मक होने से सब कुछ मैं ही हूँ। एक और अनेक भी मैं ही हूँ क्योंकि स्व और पर का प्रकाशक हूँ।। ६२ ।।

मित्रस्वरूपोऽप्यहमेव भामि

शत्रुस्वरूपोऽप्यहमेव राजे।

प्रशंसकोऽप्यस्मि च निन्दकश्च

स्वात्मस्वरूपोपि परस्वरूपः।। ६३ ।।

इस संसार में भासित होने वाला मित्रस्वरूप भी मैं ही हूँ और शत्रुस्वरूप भी मैं ही हूँ। प्रशंसक और निंदक भी मैं ही हूँ और स्वस्वरूप एवम् परस्वरूप भी मैं ही हूँ।। ६३ ।।

न दृश्यो नावधार्योऽहं स्मार्यश्चाप्यस्म्यहं नहि।

सिद्धत्वान्न प्रमाणानां व्यापारो मम भासकः।। ६४।।

मैं दृश्य नहीं हो सकता, निर्धारणीय नहीं हो सकता एवम् स्मरण का भी विषय नहीं बन सकता। मैं तो सिद्ध हूँ। किसी भी प्रमाणव्यापार से मेरी साध्यता सम्भव नहीं है। आशय यह है कि समस्त क्रियाओं का कर्त्ता मै हूँ कर्म अथवा साध्य नहीं हूँ।। ६४।।

सदास्फुरणरूपत्वात् प्रमाणानां प्रकाशकः।
निखिलात्मस्वरूपत्वात् परमात्माऽखिलेश्वरः॥ ६५॥

स्फुरण अर्थात् विर्मश की निरन्तरता, प्रकाश-शिव में स्थित रहती है। अतः मैं समस्त प्रमाणों का प्रकाशक हूँ एवम् प्रत्येक देव में विद्यमान प्रमाता मैं ही हूँ इसलिए जगदीश्वर परमात्मा ही मेरा वास्तविक स्वरूप है॥ ६५॥

अहमेव परं ज्ञानमहमेव परा स्थितिः।
अहमेव परं प्राप्यमहमेव परं धनम्॥
अहमेव परा शक्तिरहं विद्या परापि सा
अहमेव त्विदं सर्वमहं सर्वस्य कारकः[४]॥ ६६-६७॥

वास्तविक ज्ञान मैं ही हूँ। परा स्थिति भी मैं ही हूँ। इस जगत् में प्राप्त करने की सबसे बड़ी चीज आत्मतत्त्व ही है। इसलिए परमधन भी वही है। वस्तुतः वही मैं पराशक्ति हूँ और निगमागम में बताई गई पराविद्या भी मैं ही हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ क्योंकि सम्पूर्ण विश्व का भासक मैं हूँ॥ ६६-६७॥

अहं जप्योऽहमामर्शो यस्य स्वाभाविको भवेत्।
स सिद्धो ज्ञानवान् योगी स एवाप्नोति पूर्णताम्॥ ६८॥

अहम् शब्द से जप का विषय बनता हुआ स्वाभाविक अहम्परामर्श से युक्त गुरुकृपाभाजन, वास्तविक रूप से सिद्ध है, ज्ञानी है, योगी है और पूर्णता-बोध से विलसित है॥ ६८॥

ज्ञानक्रियाभ्यां यः सिद्धः स सिद्ध इति कथ्यते।
ज्ञानक्रियाभ्यां यो मुक्तः स मुक्तः प्रोच्यते बुधैः॥ ६९॥

---

४. भासकः।

ज्ञान एवम् क्रिया से जो सिद्ध होता है वही सिद्ध कहलाता है एवम् ज्ञान और क्रिया से जो मुक्त होता है, बुध जन उसी को मुक्त मानते हैं।। ६९।।

अद्भुतानन्दसन्दोहभानदानमहोत्सवः ।
यस्य मे पुरतो नित्यं तस्य दुःखं कथं भवेत्।। ७०।।

मेरे समक्ष सदा अद्‌भुत (परिपूर्ण) आनन्द से उल्लसित ज्ञान-दान का महोत्सव प्रवर्त्तमान रहता है, ऐसी स्थिति में किसी दुःख की कल्पना हास्यास्पद ही होगी।। ७०।।

न स्वरूपातिरिक्तं मे किञ्चिदस्ति कदाचन।
स्वरूपोद्भूतमेवेदं यत्किञ्चित्प्रतिभाति मे।। ७१।।

मुझ शिवात्मा से अतिरिक्त कभी भी कुछ भी अस्तित्व में नहीं है। क्योंकि जो कुछ प्रतिभासित होता है वह सब मुझसे ही उद्‌भूत है।। ७१।।

अनाकृति ह्यरूपं च त्वविकल्प्यमविक्रियम्।
स्वतः सिद्धमगाधं च स्वरूपं सर्वदास्ति मे।। ७२।।

मेरा स्वरूप सदा ही आकृति, रूप विकल्पना, विक्रिया, साध्यता एवम् गाधता के परिच्छेदन से विवर्जित है।। ७२।।

नहि ग्राह्यं न वा स्मार्यं स्वरूपं सिद्धमेव हि।
प्रतिभातोन्मुखीभूतं स्वरूपादेव हीयते।। ७३।।

अपना स्वरूप न ग्राह्य है, न स्मरण का विषय है वह तो सिद्ध ही है। प्रतिभासित होने वाला तथा उन्मुखता से प्राप्त होने वाला कभी भी स्वरूप नहीं कहला सकता है।। ७३।।

स्वयम्प्रकाशमानं हि स्वरूपं सर्वभासकम्।
सदा मुख्यतया ग्राह्यं प्रतिभातेऽपि वस्तुनि।। ७४।।

अपना स्वरूप दो विशेषताओं से आलिङ्गित है। एक तो स्वयम्प्रकाशमान है दूसरा सभी दृश्य का प्रकाशक है। अत: गुरु और शास्त्र बतातें हैं कि व्यष्टि अथवा समष्टि रूप में दृश्य का प्रतिभान होते समय हमें अपने स्वरूप की ही मुख्यता का आकलन करना चाहिए।। ७४।।

विच्छिद्य विच्छिद्य विभासमान:
सर्व: सहेतुर्न च सुस्थिरोस्ति।
स्वात्मा तु शाश्वत्परिभासमानो
नापेक्षते कंचन सिद्धिहेतुम्।। ७५।।

एक के प्रतिभासित होने के पश्चात् दूसरे का प्रतिभासन होना, विच्छेद के विना सम्भव नहीं और स्वाभाविक रूप से ऐसे प्रतिभास एक तरफ से सहेतुक हैं और दूसरी तरफ अस्थिर हैं। इसके विपरीत स्वात्ममहेश्वर सकृद्-विभात (सदा प्रकाशमान) है। अत: अपनी सिद्धि के लिए किसी भी हेतु की अपेक्षा नहीं करता।। ७५।।

अन्तर्भूतं जगत् सर्वं मयि तिष्ठति सर्वदा।
इति जानन्नहं नैव याचे किञ्चिच्च कंचन।। ७६।।

सम्पूर्ण जगत् मुझ स्वात्मा में सदा ही अन्तर्भूत रहता है इस बात को जानता हुआ मैं कभी भी किसी से किसी वस्तु की याचना नहीं करता।। ७६।।

दृष्टाऽवस्था जगद्रूपा स्वस्वरूपतया मया।
अस्थिरा भेदभानापि स्वाभेदरसनिर्भरा।। ७७।।

जगत्स्वरूप अवस्था भी मेरी ही एक अवस्था है और वह मुझसे पृथक् होकर नहीं रह सकती। वह यद्यपि अस्थिर है और भेदभान रूप है

फिर भी स्वाभेद-रस (आत्म-रस) से आप्लावित होने से अस्तित्ववान् होता है।। ७७।।

सौषुप्तं तु पदं पश्यन् सर्वभावक्षयास्पदम्।
जानामि सर्वरहितं स्वात्मानमविकल्पकम्।। ७८।।

जहाँ सभी भावों का क्षय हो जाता है ऐसी सुषुप्तावस्था भी मेरी ही एक अवस्था है और उसकी अनुभूति से मैं स्वयं को सर्व-रहित विकल्प-लय-स्थान के रूप में विमर्शित करता हूँ।। ७८।।

वर्त्तमानस्य भूतस्य स्वप्ने द्रष्टा भविष्यत:।
अप्यसम्भविनश्चापि वेद्मि स्रष्टृत्वमात्मनि।। ७९।।

स्वप्नावस्था में वर्तमान, भूत, भविष्यद् तथा असम्भव वस्तुओं का भी स्रष्टा और द्रष्टा मैं होता हूँ क्या यह अनुभव किसी भी प्रकार से अपलपनीय है?।। ७९।।

तुरीयावस्थया व्याप्त: स्वस्वरूपतया शिव:।
देशकालानवच्छिन्नो भारूपोऽहमनुत्तर:।। ८०।।

अपने स्वरूप से ही प्रकाशित तुरीयावस्था से आलिङ्गित शिव, देश तथा काल के अवच्छेदन को तोड़ता हुआ प्रकाशरूप अनुत्तर भाव में सुप्रतिष्ठित होता है– क्या यह हमें अनुभव नहीं करना चाहिए?।। ८०।।

नालक्ष्यं लक्षितुं वाञ्छा सिद्धं साधयितुं न मे।
नित्यं नित्यतया द्रष्टुं प्रयतेऽहं पुन: पुन:।। ८१।।

किसी लक्षण से सिद्धि की अपेक्षा नहीं रखने वाले स्वात्ममहेश्वर को लक्षित करने की इच्छा मुझे कभी नहीं होती, ठीक उसी तरह "सिद्धस्वरूप" को साधने की इच्छा नहीं होती। शास्त्रमर्यादा के अनुरूप

मैं नित्य स्वात्मा को नित्य नवीन रूप से देखने के लिए ही उल्लसित होता रहता हूँ।। ८१ ।।

नित्यं नित्यतया पश्यन् ह्रष्यन्नस्मि तु यद्यपि।
तथापि देहसम्बन्धात् कुर्वन्निव विभाम्यहम्।। ८२।।

यद्यपि नित्य स्वात्मा को नित्य रूप में ही देखता हुआ मैं हर्षप्रकर्ष से परिपूर्ण रहता हूँ तथापि देह सम्बन्ध होने से लोगों की दृष्टि में मैं जागतिक क्रियाओं को करता हुआ दिखता हूँ।। ८२।।

नास्ति नित्यमनित्यं वा नैको न बहवः पुनः।
अनन्तैश्वर्यसम्पन्नः प्रमातैवास्मि चित्रभूः।। ८३।।

सत्य न नित्य न अनित्य है, न एक है, न अनेक है। अनंत ऐश्वर्य सम्पन्न प्रमाता विचित्र जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) है और वही सत्य है।। ८३।।

ऊर्ध्वं गच्छत्वधो वापि मनः प्राणादिजा क्रिया।
उपलब्धास्म्यहं तस्याः सदैवैकरसोऽनघः।। ८४।।

मन एवम् प्राण आदि से उत्पन्न होने वाली क्रिया ऊर्ध्वगामी हो अथवा अधोगामी हो पर उसको उपलब्ध करने वाला मैं हूँ। मैं सदा एक रस अर्थात् आनन्दघन हूँ और दोषवर्जित हूँ।। ८४।।

उपलब्धृत्वमेवेदं सदा सर्वत्र संस्थितम्।
नित्यं सत्यं स्वरूपं मे राजतेऽविक्रियं परम्।। ८५।।

स्वात्ममहेश्वर के अंतर्गत जो उपलब्धृत्व (समझ का कर्त्तापन) है वह सदा और सर्वत्र स्थित है, वह नित्य, है, सत्य है, वही अपना स्वरूप है वह परमतत्त्व है और विकार वर्जित है अतएव किसी अन्य की अपेक्षा के विना देदीप्यमान है।। ८५।।

स्वस्मिन् स्थित: सर्वमय: समन्ताद्
विकाससंकोचमयस्वरूप: ।
कस्याप्यहं नास्मि न मेस्ति कश्चिद्
विभामि चैकोऽपि विचित्ररूप:।। ८६।।

मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ। सभी वस्तु का अवभासक होने से सर्वमय हूँ। विकास और संकोच अपना ही स्वरूप है जो विश्व का कल्पक है। न तो मैं किसी के अधीन हूँ और न ही मेरे कोई अधीन है क्योंकि ये दोनों ही भेद सापेक्ष होते हैं। मैं एक ही, विचित्ररूपों में भासित होता हूँ।। ८६।।

उत्थानस्य लयस्यापि द्रष्टैकोहं सनातन:।
सृष्टौ स्थितौ लये चास्मि विक्रियारहितो विभु:।। ८७।।

उत्थान या विलय दोनों का द्रष्टा मैं हूँ, मैं ही सनातन हूँ, सृष्टि स्थिति और प्रलय में विकार शून्य मैं ही विभु रूप में स्थित हूँ।। ८७।।

दर्श्यते स्थाप्यते किन्न सर्वशक्तिमता मया।
भास्यते क्रियते सर्वं स्वात्मनि स्वात्मना स्वयम्।। ८८।।

मैं सर्वशक्तिमान हूँ क्योंकि कौन ऐसी चीज है जो मेरे द्वारा दिखाई न जाती हो और प्रतिष्ठित न की जाती हो? मैं स्वयम् ही स्व से स्व में सब कुछ भासित करता हूँ और क्रियाशील बनाता हूँ।। ८८।।

अकृत्रिमविमर्शेनाकृत्रिमाकृतिमानहम् ।
सर्वदा सर्व एवास्मि व्याप्यव्यापकवर्जित:।। ८९।।

स्वात्ममहेश्वर का विमर्श कृत्रिम नहीं है, आकृति भी कृत्रिम नहीं है, एक के ही सर्वरूप में भासित होने से भेद घटित व्याप्य-व्यापक भाव भी नहीं है क्योंकि वह सर्वदा सर्वभाव में स्थित है।। ८९।।

इतश्चाप्यमुतश्चापि स्थितोऽस्म्येकोऽहमद्वय:।
इतोऽमुतो विभागस्य कल्पकोऽप्यस्मि मध्यग:।। ९०।।

इस रूप में और उस रूप में अद्वय एक मैं ही भासित होता हूँ क्योंकि इत: (निज) और अमुत: (पर) इस प्रकार के विभाग का प्रकल्पक मैं ही मध्यस्थ हूँ।। ९०।।

स्थितं नित्यं स्वमात्मानं सर्वशक्तिसमन्वितम्।
विस्मृत्य शून्यदेहादिर्भवन् याचे स्वत: स्वयम्।। ९१।।

अपना स्वरूप नित्य स्थित सर्वशक्तिसम्पन्न है किन्तु उसे भूलकर मैं कभी शून्य बन जाता हूँ, कभी प्राण बन जाता हूँ और इसप्रकार से स्थूलदेह पर्यन्त अपनी कृत्रिम अहन्ता को स्वीकार कर लेने से नित्य सिद्ध अपने स्वरूप का भिखारी मैं स्वयम् बन जाता हूँ।। ९१।।

वर्त्तमाने वर्त्तमान: को न स्यात् सर्वशक्तिभाक्।
भविष्यद्भूतचिन्ताप्तो विस्मृतात्मा न को भवेत्।। ९२।।

अपने वर्त्तमान स्वरूप में विद्यमान रहता हुआ साधक सर्वशक्तिमान् होता है। किन्तु जो व्यक्ति भविष्यद् और भूत की चिन्ता में अपने को डुबा देता है वह आत्म-स्मृति को ही खो बैठता है।। ९२।।

परिवर्जितसङ्कोचो विकसन्नस्मि सर्वत:।
बोधोद्भूतक्रियाशक्त्या क्रियोद्भूतविदा पुन:।। ९३।।

मैं समस्त संकोच का परित्याग कर सर्वतोभावेन विकस्वर होता हूँ। यह विकस्वरता एक तरफ ज्ञान मूलक क्रियाशक्ति से पुष्ट होती है तो दूसरी तरफ क्रिया मूलक ज्ञानशक्ति से परिपुष्ट होती है।। ९३।।

स्वस्मादेव समुद्भूय स्वस्मिन्नेव स्थितं जगत्।
स्वस्वरूपतया भाति नित्ययुक्तस्य योगिन:।। ९४।।

जो नित्य युक्त योगी हैं उन्हें यह अत्यन्त स्पष्टतया प्रतिभासित होता है कि हमारे ही स्वरूप से उत्पन्न हुआ, हममें ही स्थित जगत् हमारे स्वरूप से अनतिरिक्त होता हुआ भी अतिरिक्त रूप में भासित होता है॥ ९४॥

विस्मृत्य देहं समताभ्युपेया
लभ्या, न देहे विषमैकबीजे।
स्वात्मस्थितिः शान्तिसमत्व जुष्टा
विद्यास्त्यविद्यापि शरीरितैव॥ ९५॥

देहभाव का विस्मरण करके समता की स्थिति प्राप्त करनी चाहिए। समस्त विषमताओं का बीज देहभाव है अतः वहाँ समता प्राप्त नहीं की जा सकती। अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना स्वात्मस्थिति कहलाती है वह शांति एवम् समता से युक्त होती है और वही विद्या कहलाती है इसके विपरीत शरीरिता अर्थात् देह अविद्या कहलाती है जिसमें शान्ति और विषमता के कलह मौजूद होते हैं॥ ९५॥

तस्य नास्त्येव वस्तुत्वं यद्धि नैव प्रकाशते।
प्रकाशते यतः सर्वं स प्रकाशोऽस्म्यहं किल॥ ९६॥

जो प्रकाशित नहीं होता है ऐसी कोई वस्तु नहीं मानी जा सकती। यतश्च समस्त वस्तु प्रकाशित होती है एवम् प्रकाश अपना स्वरूप है अतः मुझसे भिन्न कोई भी वस्तु हो नहीं सकती॥ ९६॥

अलक्ष्योऽनावृतोऽनन्तः परिणामपरिच्युतः।
एवमेव सदा सिद्धो देशकालविवर्जितः॥ ९७॥
देहप्राणमनोबुद्धिशून्यस्पर्शविनिर्गतः।
स इत्यनेन शब्देन सन् स्वात्मोद्दिश्यते पुरा॥ ९८॥

ततोऽहमिति शब्देन विधेयामर्शरूपिणा।
प्रत्यक्षीक्रियते स्वात्मा स्वात्मनैव सुयोगिना।। ९९।
तत्र सर्वमिदं नास्ति व्यक्ताव्यक्ततया स्थितम्।
विश्वं, किन्तु स्वयं स्वात्मा भ्राजते स्वस्वरूपतः।। १००।।

स्वात्ममेहश्वर किसी लक्षण वाक्य से लक्षित नहीं होता किसी इदन्ता से आवृत नहीं होता। अविनाशी होता हुआ अनंत रूपों में भासित होता है। कभी भी अपने स्वरूप से स्वरूपान्तर को प्राप्त कर च्युत नहीं होता। आत्मप्रकाश नित्य सिद्ध है तथा देश और काल की अपेक्षा के विना ही उसकी विद्यमानता होती है। देह, प्राण, मनस्, बुद्धि और शून्य के स्पर्श से वर्जित यह स्वात्मा जो शाश्वत विद्यमान है वह प्रथमतः "सोऽहम्" के "सः" इस शब्द से उद्देश्य रूप में स्थित है। वही विधेय के आमर्शक "अहम्" शब्द से योगी लोगों के द्वारा साक्षात्कार किया जाता है। उस स्वात्मा में व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में स्थित रहने वाला विश्व का अपना कोई भी अस्तित्व नहीं रहता। प्रत्युत स्वात्ममहेश्वर ही स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है।। ९७-१००।।

स्वरूपं पश्य हे स्वान्त! स्थितमस्ति सदैव यत्।
न च बाध्यं न वा प्राप्यं विश्वरूपतया स्थितम्।। १०१।।

हे मेरे अन्तःकरण! सदा विद्यमान अपने स्वरूप की अनुभूति करो। स्वरूप कभी भी बाधित नहीं होता। वह कभी भी अप्राप्त नहीं होता, जिसे पाया जा सके। वह तो सदा ही सभी रूपों में विद्यमान रहता है।। १०१।।

अलक्ष्यं लक्षितुं येच्छा सिद्धं साधयितुं च या।
सन्तं भावयितुं चापि तास्त्यक्त्वाहं सुखी सदा।। १०२।।

अलक्ष्य को लक्षित करने की जो इच्छा होती है और सिद्ध को साधन की जो इच्छा एवम् विद्यमान को बनाकर देखने की जो इच्छा होती है उन इच्छाओं का परित्याग कर मैं सदा सुखी हूँ।।१०२।।

व्यापकोऽप्यहमेवास्मि व्याप्योप्यस्म्यहमेव हि।
व्याप्यव्यापकयोर्ज्ञाता द्रष्टा भासयिता सदा।।१०३।।

व्यापक भी मैं ही हूँ और व्याप्य भी मैं ही हूँ। व्याप्य और व्यापक का ज्ञाता, द्रष्टा और भासक सदा मैं ही हूँ अन्य दूसरा नहीं।।१०३।।

कर्त्तव्यं नहि मे किञ्चिद् भवितव्यं मया नहि।
नित्यपूर्णस्य तृप्तस्य कार्यं भाव्यं च किं भवेत्।।१०४।।

कोई भी कर्त्तव्य मेरा नहीं है और न मुझे कुछ बनना ही है। यतश्च मैं नित्य- पूर्ण हूँ और नित्य-तृप्त हूँ अत: मेरे लिए न कोई कार्य है और न ही मुझे कुछ बनना है।।१०४।।

स्वभावैकरसे नित्ये योऽभेदो भाति कश्चन।
स एवामृतमित्युक्तं विषं स्वात्मावभासनम्।।१०५।।

अपना स्वभाव एक-रस है, नित्य है अत: स्वयम् में जो स्वाभाविक अभेद विभासमान होता है वही समस्त भावों का अमृत तत्त्व (निचोड़) है। वही विष अर्थात् व्यापक है और स्वात्मावभास कहलाता है।।१०५।।

क्रियाकालविनिर्मुक्तस्वभावस्य सतो मम।
क्रियाकालावभासो हि परिच्छिन्नत्वभासक:।।१०६।।

मैं सत् हूँ अतएव मेरा स्वभाव है क्रिया एवम् काल से मुक्त

रहना क्योंकि क्रिया का अवभासन अथवा काल का अवभासन परिच्छिन्न वस्तु में ही सम्भव है न कि अपरिच्छिन्न वस्तु में॥१०६॥

अनिर्देश्यमनिर्ग्राह्यं स्वरूपं स्वस्य राजते।
नित्यं सिद्धञ्च सम्प्राप्तं तत्प्राप्तीहां त्यजन् सुखी॥१०७॥

आत्मस्वरूप सदा विराजमान रहता है। अतः न उसके निर्देश की आवश्यकता है और न उसके स्वीकार की। स्वरूप तो सिद्ध होता है और नित्य- प्राप्त होता है अत: उसके प्राप्ति की चेष्टा का त्याग करने मात्र से अपनी नित्य सुखिता प्रगट हो जाती है॥१०७॥

वर्त्तमानं स्वत: सिद्धं भावाभावपदच्युतम्।
सर्वशक्त्येकशक्त्यात्म-स्वातन्त्र्याश्रयमाश्रये॥१०८॥

स्वात्ममहेश्वर सदा विद्यमान है, स्वत: सिद्ध है, भाव और अभाव भूमि से अनालिङ्गित है सर्वशक्तिसम्पन्न है, एकशक्तिक है, और स्वातन्त्र्यशक्ति का आश्रय है। हम ऐसे स्वरूप का ही आश्रयण करते हैं॥१०८॥

मयि प्रकाशमाने हि यदन्यद् भाति किञ्चन।
तदुपेक्ष्य सदा वर्त्ते प्रकाशैकस्वरूपवान्॥१०९॥

मैं तो सदा प्रकाशमान हूँ। अन्य जो कुछ मुझमें भासित होता है वह अनित्य एवम् असत्य है। उसकी उपेक्षा करके प्रकाशरूप मैं ही सदा विद्यमान रहता हूँ॥१०९॥

अस्म्येवाहं स्वत: सिद्धो भविष्यामि च किं पुन:।
शरीरे चास्मिता त्यक्ता मयाऽनर्थस्य जन्मदा॥११०॥

स्वत: सिद्ध होने से और विश्व से पूर्व सिद्ध होने से मैं तो विराजमान ही हूँ फिर मैं कुछ बनूँगा ऐसी दुर्भावना से ग्रस्त क्यों होऊँ?

अनर्थ को जन्म देने वाली शरीर की अस्मिता है, उसका हमने परित्याग कर दिया है।।११०।।

अहो महाश्चर्यमिदं चरित्रं
धन्यस्य कस्यापि सुयोगिनो मे।
वसंश्च कुत्रापि मिते शरीरे
बिभर्मि विश्वं यदिदं समस्तम्।।१११।।

अहो मुझ धन्य योगी का यह चरित्र अत्यन्त सुखद आश्चर्य है कि मैं एक परिमित शरीर में निवास करता हुआ भी इदन्तामय सम्पूर्ण विश्व को धारण करता हूँ।।१११।।

स्पन्दनं मे निजं रूपं तच्छुद्धं सर्वदैव हि।
स्पन्दमानः सदैवास्मि नित्यः पूर्णश्चिदात्मकः।।११२।।

स्पन्दन मेरा अपना स्वरूप है और उसकी शुद्धि सर्वदा अव्याहत है। चितिस्वरूप मैं नित्यपूर्ण हूँ और सदा स्पन्दमान हूँ।।११२।।

स्पन्द एव प्रकाशो मे विश्रान्तिश्च निजात्मनि।
अकृत्वा देहसंस्पर्शं तं पश्यामि स्वतः स्थितम्।।११३।।

स्पन्द ही मेरा प्रकाश है और निजात्म में विश्रान्त है। मैं देह स्पर्श के विना स्वतः सिद्ध स्पन्द का दर्शन करने वाला हूँ।।११३।।

अस्म्येवाहं स्वतः सिद्धः स्पन्दमानो भवामि न।
शरीरे चास्मिता त्यक्ता जन्ममृत्युभयप्रदा।।११४।।

स्पन्दमान मैं स्वतःसिद्ध विराज रहा हूँ अतएव सिद्ध बनने की अभिलाषा नहीं है। जन्म, मृत्यु और भय को देने वाली देहाहन्ता को हमने परित्याग कर रखा है।।११४।।

स्पन्दः स्वरूपभासो मे स्पन्दो मे निखिलाः क्रियाः।

देहः स्पन्दात्समुद्भूतः स्पन्दादेव च जीवति॥११५॥

मेरा स्पन्द ही स्वरूप भास है वही निखिल क्रियाएँ हैं। यह देह भी स्पन्द से लब्धजन्मा है और स्पन्द के अंदर ही जीवित रहता है॥११५॥

स्वप्रकाशविभवोस्मि सर्वदा
सन्तनोमि निखिलं स्वसम्पदा।
त्याज्यमस्ति नहि किञ्चिदण्वपि
स्वात्मभूतमखिलं विजृम्भते॥११६॥

स्वयम्प्रकाश तो मेरा वैभव है। अपनी संविद् से मैं सम्पूर्ण संसार को फैलाता हूँ। अणु मात्र भी मेरे लिए त्याज्य नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व स्वात्मा से अनतिरिक्त होकर विजृम्भित हो रहा है॥११६॥

अस्ति जन्म ननु यस्य कालकृत्
मृत्युरस्ति किल तस्य कालकृत्।
यश्च कालभुवनादिजन्मदं
स्वं सुवेत्ति नहि तस्य पञ्चता॥११७॥

जिसका जन्म कालकृत है उसीकी मृत्यु कालकृत होती है। किन्तु जो व्यक्ति कालभुवनादि के जन्मदाता स्वयम् को जानता है। उसकी मृत्यु कभी भी कैसे सम्भव है॥११७॥

अनंशः स्वप्रकाशश्च स्वात्मा नित्योऽस्त्यविक्रियः।
क्रियते साध्यते किन्तु स्वात्मनि स्वात्मना स्वयम्॥११८॥

स्वात्म महेश्वर अखण्ड है, स्वप्रकाश है, नित्य है, तथा अविक्रिय है। अतएव उसे साध्य बनाना, उसे निष्पन्न करना किसी

भी प्रकार सम्भव नहीं है, बल्कि वही स्वयम् स्व में सम्पूर्ण विश्व का उद्भावन करता रहता है॥११८॥

व्याप्यत्वं व्यापकत्वं च महत्त्वमणुतापि च।
दूरत्वं च समीपत्वं भान्त्येकस्मिन् मयि स्थिते॥११९॥

यह व्याप्य है और यह व्यापक है, यह महान् है, और यह अणु है एवम् वह दूर है, यह समीप है– इस प्रकार के सभी भान सदा विराजमान मुझ एक में ही हुआ करते हैं॥११९॥

कर्त्तव्यत्वं कृतत्वं च भविष्यत्त्वं च भूतता।
वर्त्तमानं क्रिया ज्ञानमज्ञानं मयि भान्ति वै॥१२०॥

यह कर्त्तव्य है, यह कृत है, यह भविष्यत् में होगा, वह भूत में था, यह वर्त्तमान है, क्रिया है, ज्ञान है, अज्ञान है– इस तरह के सारे विकल्प मुझसे ही उठते रहते हैं॥१२०॥

कदाचिन्मातृतामाप्तो भामि स्वल्पो ह्यपूर्णदृक्।
पूर्णदृक् चास्मि नित्योहं भानाभानावभासकः॥१२१॥

कभी-कभी जब मैं मितप्रमाता बनता हूँ, तब अपूर्ण द्रष्टा होने से स्वल्प हो जाता हूँ पर वास्तविक रूप से मैं पूर्णदृक् हूँ, नित्य हूँ एवम् भान और अभान का भासक हूँ॥१२१॥

तास्ता ह्यवस्था बहुधानुभूता
देहेपि तद्भानकृता विभूतिः।
प्राणा निरुद्धा गलिता च वृत्तिः
स्वात्मा तु सर्वत्र सदैकरूपः॥१२२॥

विभिन्न उन-उन अवस्थाओं की अनुभूति हमने की। इस देह में भी संविद् भानके विभूतिमय प्रभाव स्पष्टरूप से परिलक्षित हुए। प्राणों

का निरोध एवम् अनात्मक वृत्ति का विगलन भी गुरुकृपा से स्वत: सम्पन्न हुआ। किन्तु स्वात्मा सभी अवस्थाओं में और समस्त काल में एक रूप में ही विराजमान रहता है कभी भी विकृत नहीं होता॥१२२॥

स्वात्मैव सर्वात्मतया विभातो
विभासमान: स्वयमेकरूप:।
तत्तद्विभातेन न हानिलाभौ
बिभर्त्ति देवोऽयमविक्रियात्मा॥१२३॥

सम्पूर्ण विश्वरूप से स्वात्मा ही भासित होता है किन्तु उसकी विभासमानता और एकरूपता अक्षुण्ण बनी रहती है। उन–उन क्रियाओं का सम्पादक स्वात्मदेव, विभिन्न वस्तुओं को भासित करता है, किन्तु उससे स्वात्मा की न तो कोई हानि होती है और न कोई लाभ॥१२३॥

स्वात्मस्वरूपोस्मि सदैकरूपो
ज्ञानक्रियाभ्यां विलसन् विभामि।
मत्तो न भिन्नं ननु किञ्चिदस्ति
भूतं न भिन्नं भविता न भूय:॥१२४॥

मैं स्वात्ममहेश्वर हूँ अतएव सदा एकरस हूँ। अपनी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति द्वारा विलसित होता हुआ देदीप्यमान होता हूँ। न तो वर्त्तमान में मुझसे कुछ भिन्न है, न भूतकाल में कुछ भिन्न था और न भविष्यत् काल में कुछ भिन्न होने वाला है॥१२४॥

भातुर्मन्नहि किञ्चिदस्ति विमलाद् भिन्नो भवो भाति य:
भाताहं परिभासयामि भुवनं स्वच्छ: स्वतन्त्र: स्वयम्।
स्वाख्याति: स्वविमर्शसंविदुदयात् प्राप्ता मदेकात्मता
सर्वासर्वतया प्रकाशयति मां देहस्थमीशं विभुम्॥१२५॥

अत्यन्त स्वच्छ एवम् प्रकाशक मुझसे भिन्न कोई भी प्रकाशित

होने वाली जागतिक वस्तु हो नहीं सकती, क्योंकि मैं स्वच्छ हूँ, प्रकाशक हूँ अत: स्वयमेव सम्पूर्ण भुवन को परिभासित करता हूँ। शक्तिपात के पूर्व जो स्वस्वरूप की अपूर्णख्याति (अख्याति) थी वह स्वविमर्शमयी संविद् के उदय होने के पश्चात् मेरा अपना ही स्वरूप बन गयी। अब वही संविद् परिच्छिन्न देह में विद्यमान मुझ व्यापक स्वात्ममहेश्वर को अखण्ड एवम् सखण्ड दोनों रूपों में भासित करती है॥१२५॥

विमर्शवीचयो नित्यं भान्ति संवित्सरस्वत:।
स्मारयन्त्यो निजैश्वर्यं सर्वरूपतया स्थितम्॥१२६॥

संविद्रूप सागर में सदा ही विमर्शरूप तरंग उल्लसित होते रहते हैं। वह विश्वरूप में स्थित निज ऐश्वर्य की प्रत्यभिज्ञा कराते रहते हैं॥१२६॥

अन्तर्बहिर्भातमिदं समस्तं शब्दार्थरूपं विषयप्रतानम्।
स्वस्मात् समुद्भूय विलीयमानं स्वस्मिंश्च पश्यन्नहमस्मि हृष्ट:॥१२७॥

शब्द एवम् अर्थरूप विश्वप्रपञ्च जो हृदय के अन्दर एवम् बाहर भासित होते हैं उन्हें मैं अपने में उत्पन्न, अपने में स्थित, और अपने स्वरूप में ही विलीन होते देखकर अत्यंत प्रसन्न होता हूँ। ऐसा आगम ज्ञान ही परमार्थ है॥१२७॥

भासमानाच्च सर्वस्मादहमस्मि पुरा सदा।
भासको दर्शक: पश्चात् तदभावानुभावक:॥१२८॥

भासित होते हुए सभी विषयों से पहले "मैं" (स्वात्ममहेश्वर) विद्यमान रहता हूँ। सभी विषयों को प्रकाशित करने वाला मैं हूँ, उनकी विद्यमानता का द्रष्टा हूँ और तत्पश्चात् उन विषयों के अभाव (प्रलय) का अनुभविता (अनुभव करने वाला) भी हूँ॥१२८॥

य: सदैव सम: स्वच्छ: सिद्धश्चापि निरञ्जन:।
कयापि क्रियया तस्मिन् किं भवेन्नूतनं फलम्॥१२९॥

जो स्वात्ममहेश्वर सदा सम है, स्वच्छ है, सिद्ध है, निरञ्जन है, उस स्वात्मा में किसी भी क्रिया से किसी प्रकार का नूतन उत्थान कैसे किया जा सकता है?॥१२९॥

मालिन्यमुपरागश्च केन कस्य कथं भवेत्।
यत: सम: सदैवैक: स्वच्छ: सर्वात्मकोस्म्यहम्॥१३०॥

यतश्च मैं ही सम्पूर्ण जगत् के रूप में भासित होता हूँ, सम हूँ, स्वच्छ हूँ और सदा एकरस हूँ अत: न कोई अन्य है और न ही मलिन। यही कारण है कि किसीकी औपाधिक परछाई अथवा मालिन्य मुझ में नहीं आ सकते॥१३०॥

इमे भावा: कथं मे स्यु: स्वस्थितिं स्थगितुं क्षमा:।
प्रभवन्ति यत: सर्वे मत्त एव शिवादय:॥१३१॥

ये सारे भाव पदार्थ एक साथ मिलकर भी मेरी कान्तिमयी विद्यमानता को स्थगित करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त सारे भाव मुझ (स्वात्ममहेश्वर) से ही अपना अस्तित्व प्राप्त करते हैं॥१३१॥

अस्म्येव किं भविष्यामि भूत्वाहं भविता नहि।
यो भूत्वास्त्यस्तिमाँल्लोके स सर्वोपि विनश्यति॥१३२॥

मैं तो सदा ही विराजमान हूँ। कुछ भी बनूँगा ऐसा सम्भव नहीं है। कुछ बन कर के मैं अस्तिता में आऊंगा अथवा किसी परिवर्तन से मेरी सच्ची स्वरूपस्थिति बनेगी, ऐसा बिल्कुल नहीं है। मैं तो अविनाशी हूँ। इसके विपरीत जो नई स्थिति में उत्पन्न होकर लोक में स्थित होगा

वह सब कुछ नश्वर ही होगा।।१३२।।

ममेयं स्वप्रभैवेत्थं नृत्यन्ती भोगमोक्षदा।
विद्यामायोभयं भूत्वा नित्यं मां रमयत्यहो।।१३३।।

मेरी यह विमर्शात्मिका स्वप्रभा ही सदा नृत्यपरायणा है, भोग और मोक्ष को देने वाली है। विद्या एवम् माया उभयरूप में प्रगट होकर यही मुझे रमण कराती रहती है।।१३३।।

अलक्ष्यमेव मे लक्ष्यमहमर्थस्तदेव हि।
अलक्ष्योऽप्यहमस्म्येव सदा सर्वस्य लक्ष्यभूः।।१३४।।

जो अलक्षित है वही वास्तव लक्ष्य है अर्थात् अहमर्थ (स्वात्ममहेश्वर) समस्त लक्षणों से विहीन है। उसी की पहचान हम मानवों का परम लक्ष्य है। अत: वास्तविक रूप से अलक्षित होने पर भी मैं सदा सभी का परम लक्ष्य स्वरूप हूँ अथवा सर्वोच्च लक्ष्य-भूमि हूँ।।१३४।।

नित्यत्वाच्चाप्यलक्ष्यत्वान्न साध्यः सिद्ध एव यः।
स देवः स्वयमेवाहं विश्वोत्पत्तिविनाशभूः।।१३५।।

जो नित्य होने से एवम् अलक्ष्य होने से साध्य नहीं हो सकता अपितु सिद्धस्वरूप ही है वह स्वात्ममहेश्वर स्वयम् मैं ही हूँ। अतएव सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति एवम् विनाश की भूमि स्वयम् मैं ही हूँ।।१३५।।

नाहं देहोस्मि देहोऽयं मय्यस्ति प्रतिभानतः।
आज्ञाकारी, ततश्चायं चिदाह्लादसुनिर्भरः।।१३६।।

मैं देह नहीं हूँ प्रत्युत यह देह मुझ में है क्योंकि इसका प्रतिभान (ज्ञान) मुझे होता है। अत: यह देह मेरा आज्ञाकारी है। वास्तविक रूप

से आज्ञाकारी देह, चिन्मय एवम् आह्लादमय हो जाता है।।१३६।।

प्राणादौ वेद्यताभानं यथा यथापसार्यते।
निर्भास्यते च वेत्तृत्वं सत्यं यत् तत्र संस्थितम्।।१३७।।
संवित्स्वातन्त्र्यधर्मस्य तथा तथोदयो भवेत्।
प्राप्यन्ते योगिना तेन खेचरत्वादिसिद्धयः।।१३८।।

प्राण, बुद्धि, मन, इन्द्रिय एवम् स्थूलदेह में जैसे-जैसे वेद्यता का अपसारण (दूर) होता है वैसे-वैसे वेत्तृता का सत्यस्वरूप प्राण से लेकर स्थूलदेहपर्यन्त भास्वरित हो उठता है और संविद् के स्वातन्त्र्य का उदय उसी क्रम में बढ़ने लगता है। अतएव योगी योग शक्ति के प्रवृद्ध होने से खेचरी, गोचरी, दिक्चरी आदि सिद्धियों की प्राप्ति से चमत्कृत होते हैं।।१३७-१३८।।

नैकोऽप्यणुर्देवि कदापि धत्ते
त्वदात्मताशून्यनिजात्मभावम्।
यत्नं पुनर्यत्तनुषे तमाप्तुं
मन्ये तवाप्येष शिवाभिलाषः।।१३९।।

हे संविद् देवि! एक अणु भी कभी भी संविद्रूपता को प्राप्त किये विना अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता और आप यदि अणु को प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का प्रयास करती हो तो मैं यही समझता हूँ कि तुम्हारा यह प्रयास शिवविषयक शिवमय अभिलाष (मनोरथ) ही है।।१३९।।

अपीन्द्रियमनोऽतीतः सर्वरूपतया स्थितः।
अविकल्पोपि सर्वात्मा भ्राजेऽहं कलनाच्युतः।।१४०।।

यद्यपि मैं इन्द्रिय एवम् मन की गति से ऊपर उठा हूँ फिर भी

सर्वरूप में स्थित हूँ। अविकल्पस्वरूप होने पर भी मैं सर्वविकल्पस्वरूप हूँ। मैं सदा ही स्वस्वरूप में एवम् स्वमहिमा में प्रतिष्ठित होने से अच्युत हूँ एवम् समस्त कल्पनाओं का आकलन करने वाला मैं विभिन्न रूपों में देदीप्यमान होता हूँ॥ १४०॥

सर्वेच्छाज्ञानतः पूर्वं राजते परतश्च यः।
तथा मध्यस्थितो भाति सोऽहमेवास्म्यसंशयम्॥ १४१॥

समस्त इच्छा एवम् ज्ञान से पूर्व, पश्चात् तथा मध्य में मैं ही प्रकाशमान रूप से स्थित रहता हूँ। यही मेरा वास्तविक स्वरूप हैं। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है॥ १४१॥

सर्वावभासकत्वाच्च सर्वाधारतया स्थितः।
चेतनोऽहं प्रकाशात्मा बीजं सर्वस्य पूर्वतः॥ १४२॥

मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशन करता हूँ और सम्पूर्ण जगत् का आधार मैं ही हूँ। इस सारे संसार के प्राकट्य से पहले उसके बीजरूप में मैं ही विद्यमान रहता हूँ। मैं जड़ नहीं चेतन हूँ। अहम्प्रकाश ही मेरा वास्तविक स्वरूप है॥ १४२॥

भूरिवाहमुपादानं भातस्य निखिलस्य च।
पितेव द्रष्टा पुत्रस्य जातस्य निखिलस्य च॥ १४३॥

जो कुछ इस संसार में दृश्य है उस सब का ऐसा उपादान मैं हूँ जिसमें अल्पता की रंचमात्र भी संभावना नहीं है। उत्पन्न होने वाली समस्त वस्तुओं का द्रष्टा मैं हूँ, जैसा कि पुत्र के उत्पन्न होने से पूर्व द्रष्टा पिता विद्यमान रहता है॥ १४३॥

वैचित्र्यं परितः पश्यन् स्वस्यैवेदं स्वयं कृतम्।
स्वात्मानं नैव जानाति पशुतामागतः शिवः॥ १४४॥

सम्पूर्ण दृश्यवैचित्र्य (जगत् की विचित्रता) स्वरूप का विलास है और स्वयम् के द्वारा निर्मित है। इसको चारों तरफ देखकर अपनी शक्ति से मोहित हुआ शिव ही पशुभाव में प्रविष्ट होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। अतः स्वात्मविस्मृति ही पशुता है।।१४४।।

अत्र तत्र च सर्वत्र सदेदानीं यदा तदा।
सर्वाकारैरहं भामि भुक्तिं मुक्तिं भजामि च।।१४५।।

स्वात्मस्मृति होने पर यहाँ-वहाँ प्रत्येक स्थान में एवम् सदा, यदा, तदा और अधुना (अभी) सभी आकारों में मैं ही पूर्णशिवरूप में प्रतिष्ठित होकर भोग और मोक्ष का आस्वादन करता हूँ।।१४५।।

त्वयि सति भगवन् विभाति सर्वं
त्वमिह न भासि विना तु भक्तिभाजम्।
तव दृशि भुवनं समस्तमेतन्–
मम तु विभासि किल त्वमेव चैकः।।१४६।।

हे भगवन्! परमेश्वर! आपके रहते ही सम्पूर्ण जगत् भासित होता है। भक्तिमान् व्यक्ति के विना आप परिलक्षित नहीं होते। प्रभो! आपकी दृष्टि में सारे भुवन भासमान होते हैं पर मेरी दृष्टि में तो केवल तू ही तू दिखाई देते हो।।१४६।।

अत्र तत्र च सर्वत्र सदेदानीं यदा कदा।
असि त्वमेव मे दृष्टौ बाह्यान्तः परिभासितः।।१४७।।

प्रभो! यहाँ-वहाँ, सब जगह, सदा, अभी एवम् यदा-कदा भी मेरे हृदय के अंदर और बाहर मेरी दृष्टि में तू ही तू परिभासित होते हो, अन्य कुछ नहीं।।१४७।।

पूर्णः सदैवास्मि न चास्म्यपूर्णः
शुद्धः सदैवास्मि न चाप्यशुद्धः।
विश्वावभासेपि सदा स्वभासः
स्वाभाविकः सन्नपि भामि कालात्॥१४८॥

मैं सदा ही आत्मदृष्टि से परिपूर्ण हूँ। देहदृष्टि का विधूनन (नष्ट) हो जाने से कभी भी अपूर्ण नहीं हूँ। अशुद्धि देहधर्म है, दृश्यधर्म है, मैं तो द्रष्टा होने से सदा विशुद्ध हूँ। इन्द्रियादि के द्वारा विश्व का भान होता है, हुआ करे। मैं स्वप्रकाश हूँ इसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। यद्यपि मैं सहज रूप से सदा ही विद्यमान रहता हूँ फिर भी कालखण्डों में भासित होता हूँ॥१४८॥

प्रसाररसतो नित्यं भामि विश्वस्वरूपवान्।
सर्वं मे विभवोस्तीति स्वप्रकाशमयः सदा॥१४९॥

मैं स्वरसतः प्रसरणशील हूँ अतः सदा विश्वरूप में भासमान होता हूँ। सारा विश्व मेरा ही वैभव है। विश्वभान में भी स्वरूपभान ही देखने से मैं अत्यन्त चमत्कृत होता हूँ॥१४९॥

स्वस्वरूपं समालिङ्ग्य विस्मृतं स्मृतिमागतम्।
बुद्धे! प्रोषितभर्त्तारमागतं मा परित्यज॥१५०॥

हे मेरी बुद्धि! आत्मदेव तुम्हारे पति हैं जिसे तुम भूल चुकी थी। अब उनकी स्मृति सौभाग्य से तुझे प्राप्त हुई है। पतिदेव स्वात्ममहेश्वर का पर्याप्त आलिङ्गन करो और अपनी आँखों से ओझल पति की उपस्थिति हो जाने के पश्चात् अब अपनी आँखों से उसे ओझल मत होने दो॥१५०॥

यतोऽनस्तमितश्चासौ निर्विच्छेदः स्वतः स्वयम्।
स्वात्मैवाहं प्रकाशोस्ति स्मरणार्हस्ततो नहि॥१५१॥

अपना स्वरूप कभी भी अस्त नहीं होता। कभी भूलता नहीं है, वह तो स्वत: स्फूर्त होता है। स्वयम् विराजमान होता है। यतश्च स्वात्ममहेश्वर ही अहम्‌रूप से प्रकाशित है अत: उसका स्मरण करना न आवश्यक है और न सम्भव ही, क्योंकि स्मरण तो इदम् का किया जाता है अहम् का नहीं॥१५१॥

सद्य:स्थितोऽस्मि न कदाप्यहमस्मि भावी
भूत्वापि नास्मि तत एव सनातनोहम्।
स्फूर्जन् सदैव जगदात्मक ईश्वरोस्मि
शम्भुः स्वभावविमलोस्मि विनिष्क्रियोऽहम्॥१५२॥

मैं सदा विराजमान हूँ। बाद में बनूँगा ऐसी बात नहीं है। उत्पन्न होने के बाद मेरी स्थिति बनी है ऐसा भी नहीं है। अत: मैं आत्मरूप में सनातन हूँ। मुझ महेश्वर का स्वभाव है स्फूर्जित होना। अत: मैं जगद्रूप से भासित होता हूँ, मैं शिव हूँ, सहज शुद्ध हूँ और क्रियानिरपेक्ष हूँ॥१५२॥

व्याप्यव्यापकताहीन: कलाकालक्रियाद्यभाक्।
शून्यमातृत्वशून्योऽहं स्वप्रकाशमय: शिव:॥१५३॥

मैं न तो व्याप्य-सापेक्ष हूँ और न व्यापक-सापेक्ष। कोई भी कला, कालखंड अथवा कृत्रिम क्रिया मुझे प्रभावित नहीं करती। मैं शून्यप्रमातृता से उत्तीर्ण हूँ। अर्थात् मैं शून्यस्वरूप नहीं हूँ। मैं तो स्वप्रकाशमय सदाशिव हूँ॥१५३॥

प्रकाशमाने मयि भाति सर्वं विभासमानं विषयस्वरूपम्।
निजस्वरूपं विषयीति नैतन्मनागपि स्याद्विषय: कदापि॥१५४॥

मेरे प्रकाशमान होने से ही सारा विश्व भासित होता है। प्रकाशित

होने वाला विषय कहलाता है और प्रकाशक शिव है। निजरूप विषयी है। स्वरूप में विषयरूपता की कल्पना की तनिक भी सम्भावना नहीं की जा सकती।।१५४।।

वचस्तर्काद्यनासाद्य स्वरसानन्दसागरे।
नित्यसिद्ध्यमृतैस्तृप्ता द्वित्रा एव न पञ्चषा:।।१५५।।

अपना स्वरूप आनन्दसागर है। स्वरूपरस की प्राप्ति वाणी और तर्क से परे है किन्तु पूरे संसार में नित्यसिद्ध अमृतमय आनन्दरस से तृप्त लोगों की संख्या विरल होती है।।१५५।।

आद्यन्तभानरहिते स्वमये प्रकाशे
वैचित्र्यभानपरिभासितचित्ररूपे।
प्राप्याभिलाषरहित: परिवर्त्तमानो
धीरो हि कश्चिदिह मोक्षमुपैति देहे।।१५६।।

प्रकाशमय निजरूप में उत्पत्ति और विनाश की कल्पना सम्भव नहीं है। विचित्र जगत् को प्रकाशित करते रहना चूँकि प्रकाश का स्वभाव है अत: स्वात्ममहेश्वर द्वारा विविधरूप वाले जगत् की सृष्टि होती रहती है। ऐसे प्रकाशतत्त्व में प्राप्तव्य की अभिलाषा से निरपेक्ष होकर विराजमान धीर पुरुष लाखों में कोई एक होता है जो इस देह में मौजूद रहकर भी जीवन्मुक्ति का अनुभव कर कृतार्थ होता है।।१५६।।

आत्मा ह्ययं तर्कशतैरगम्यो
बोधस्वरूपोस्ति सदैव सिद्ध:।
नोपायजालैरयमस्त्यवाप्य:
किन्त्वस्मि भासे भवितास्मि नाहम्।।१५७।।

निजस्वरूप की उपलब्धि सैकड़ो तर्कों के द्वारा सम्भव नहीं है।

यतश्च आत्मा बोधस्वरूप है अत: साध्य नहीं प्रत्युत सनातन और सिद्ध है। आत्मा की प्राप्ति उपायजाल से सम्भव नहीं है। मैं तो सदा विद्यमान हूँ, सदा प्रकाशमान हूँ, मैं भविष्यत्काल में अपने सही स्वरूप को प्राप्त करूँगा ऐसा सम्भव नहीं है॥१५७॥

आत्मावबोधने हेतुर्गुरुरेक: स्वयं शिव:।
देहात्मना गुरु: शिष्यो भवन्भाति प्रकाशते॥१५८॥

स्वरूप के बोधन में केवल गुरु ही समर्थ है। स्वयम् शिव ही गुरु और शिष्यरूप में स्थित होकर देहधारी बन जाते हैं॥१५८॥

विमृशामि प्रकाशेहं मत्तो विश्वं मयि स्थितम्।
पारमार्थिकमेतच्चाहन्तारूपं निरूपितम्॥१५९॥

मैं विमर्श करता हूँ, प्रकाशमान हूँ, सारा विश्व मुझ से ही उत्पन्न होता है, मुझ में स्थित पूर्णाहन्ता ही मेरा पारमार्थिकस्वरूप है– ऐसा शैवागम का सिद्धान्त अटल है॥१५९॥

देशकालपरिच्छिन्ना भान्ति नीलसुखादय:।
इदन्ता रूपनियता, न प्रमाता कदाचन॥१६०॥
सर्वस्मात् पूर्वसिद्धोऽयं प्राकाशिष्ट प्रकाशते।
प्रकाशिष्यत एवात: पुराण: पुरुष: स्मृत:॥१६१॥

सुखादि आन्तरभाव एवम् नीलादि बाह्यभाव, देश और काल के परिच्छेदन से युक्त होते हैं। उनके साथ इदन्ता का बन्धन होता है। किन्तु प्रमाता में न देश-काल का परिच्छेदन होता है और न इदन्ता का बन्धन होता है। अपना स्वरूप प्रमाता है। वह सभी वेद्य से पूर्वसिद्ध है। वह पहले भी प्रकाशित होता था, आज भी प्रकाशित है और भविष्यद् में सदा प्रकाशित होता रहेगा। पहले भी नवीन होने से इसे पुराण कहा

जाता है और समस्त वेद्य में अनुस्यूत होने से इसे पुरुष कहा जाता है॥१६०—६१॥

अनन्तानन्दरूपस्य तिष्ठतः सच्चिदात्मनः।
भान्ति देहादिविश्वानि ममैवान्तःस्थितान्यपि॥१६२॥

मेरा स्वरूप अविनाशी है, आनन्दरूप है, सदा विराजमान है, सच्चिद्घन है, देह से लेकर समस्त वेद्यवर्ग मुझ में ही स्थित होते हैं॥१६२॥

ज्ञातुर्द्रष्टुरवस्थातुर्बाह्यान्तःपरिभासिताः।
विषया बहुधा भान्ति देहभानपुरःसराः॥१६३॥

मैं ज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ और विभिन्न अवस्थाओं वाला हूँ। मेरे अन्दर और बाहर अनेक प्रकार के विषय भासित होते हैं जिनका आरम्भ देहभान से होता है॥१६३॥

स्वप्रकाशमयस्यास्य ज्ञातुर्ज्ञानक्रियादयः।
स्वस्मात् स्वस्मिन् स्वयं भान्ति स्वशक्त्यैव स्वभावतः॥१६४॥

मैं ज्ञाता हूँ, स्वप्रकाशमय हूँ, ज्ञान और क्रिया मेरी स्वाभाविक शक्ति है, इनका भान मुझसे होता है, मुझमें होता है और किसी अन्य की अपेक्षा के विना होता है॥१६४॥

नित्यानन्दचिदात्माहं भामि सर्वत्र सर्वदा।
मद्भासा भान्ति मय्येव मज्जाता विषयास्त्विमे॥१६५॥

मैं नित्य आनन्दरूप हूँ, चिद्घन हूँ, सदा सर्वत्र भासमान हूँ। मेरे प्रकाश से ही मेरे अन्दर मुझसे उत्पन्न इदन्तास्पद (इदन्तारूप) समस्त विषय प्रकाशित होते हैं॥१६५॥

नहि सत्त्वमसत्त्वं वा तेजसां तमसामपि।
मया विना, यतो भाति घटोऽयं[5] प्रतिभाति मे।। १६६।।

तेज हो अथवा तम, प्रकाश हो अथवा अंधकार उनका होना या न होना मेरे विना प्रमाणित नहीं होता। अतएव यह प्रतीति देखी जाती है– मुझे घट का ज्ञान हो रहा है अथवा मैं सूर्य को जानता हूँ इत्यादि।। १६६।।

भवतः पूर्वमेवैतदासीत् सर्वं धरादिकम्।
स्थास्यत्यपि पुनः पश्चात् कथं नास्ति त्वया विना।। १६७।।
अहो नाहमयं देहश्चेतनोहं सदा स्थितः।
पुरातनोस्मि सर्वस्माद् भासको भूतभावनः।। १६८।।

जिज्ञासा की जा रही है कि जब आपका जन्म हुआ था उसके पूर्व से ही क्षिति, जल आदि की स्थिति थी और इतना ही नहीं एक मानव के पूरे जीवन बीत जाने के पश्चात् भी पञ्चभूत की स्थिति बनी रहेगी। तब फिर यह कैसे माना जाय की पृथ्वी आदि का भान मेरे विना सम्भव नहीं है। इसका समाधान यह है कि आप तो देह को स्वरूप मान बैठे हो जबकि तुम चेतन रूप हो। चेतन तो नित्यस्थित रहता है। पृथ्वी, जल, इत्यादि की सृष्टि चेतन करता है। अतः सभी जड़-वस्तु से पुरातन मैं हूँ, सबका भासक मै हूँ और समस्त भूत का अभिभावक मैं ही हूँ।। १६७–६८।।

जडश्चेतनतो जातो जडादपि च चेतनः।
दृश्यते, कथमेतत् स्यात् पूर्वमस्ति जडाद् भवान्?।। १६९।।

जैसे जड़, चेतन से उत्पन्न होता है वैसे ही जड़ से भी चेतन उत्पन्न होता है। जब ऐसी स्थिति है तब आप इस बात को कैसे सिद्ध कर सकते

---

५. सूर्योयं।

हैं कि आप जड़ से पुरातन है? यह जिज्ञासा उठती है।। १६९।।

स्थूलेयं पृथिवी तस्या जलं सूक्ष्मं ततो रविः।
तस्माद्वायुस्ततश्चापि खं मनो बुद्धिरेव च।। १७०।।
पूर्वपूर्वतमं सूक्ष्मं निदानं दृश्यते ननु।
सर्वस्मात् सूक्ष्म एवाहं नामरूपविवर्जितः।। १७१।।

समाधान यह है– कि पृथ्वी स्थूल है उसकी अपेक्षा जल सूक्ष्म है, जल से सूक्ष्म तेज, तेज से वायु, वायु से आकाश, आकाश से मन, और मन से बुद्धि, सूक्ष्म होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो कारण है वह सूक्ष्म होता है और स्थूल से पूर्वसिद्ध होता है। किन्तु इन सबसे पूर्व में मैं हूँ क्योंकि मैं इन सबको नाम और रूप के माध्यम से जानता हूँ, जबकि मैं नाम और रूप से वर्जित हूँ।। १७०-१७१।।

अस्मीत्येव न नास्मीति न चाहं भविता पुनः।
इदमस्तीदमेवास्ति कल्पना सत्यमित्यपि।।
मयीव त्वयि भातीदं सर्वमेव विकल्पितम्।। १७२।।

मैं निश्चित रूप से हूँ, मैं नहीं हूँ ऐसा नहीं हैं, यह भी नहीं है कि पुनः मैं होऊँगा। यह है– यह नहीं है, इस तरह की जो भी कल्पना है, या सत्य है, उपर्युक्त सारी बातें विकल्प कहलाती हैं। ये सारे विकल्प जैसे मेरे अन्दर भासित होते हैं वैसे ही आपके अन्दर भी भासित होते हैं।। १७२।।

नन्विदानीमहं त्वं च द्रष्टा बोद्धास्मि नास्मि प्राक्।
न चाग्रेपि भविष्यावः सर्वस्मात् कथमस्मि प्राक्।। १७३।।
हन्ताहं त्वं च सर्वस्मिन् कालेऽस्म्यसि च किं नहि।
स एवाहमिदानीं च पुरा चाग्रे च सर्वदा।। १७४।।

जिज्ञासा होती है कि वर्तमान काल में हम और आप द्रष्टा हैं, बोद्धा हैं। इसके पहले तो नहीं थे और बाद में भी नहीं रहेंगे। ऐसी स्थिति में जो आपने कहा कि सबसे पहले मैं ही रहता हूँ यह कैसे युक्तिसंगत होगा?

इसका समाधान है– आप बड़े भोले-भाले हो। देह से अलग आप भी हो, हम भी हैं और हम दोनों सभी काल में हैं, क्या ऐसा नहीं समझते? ऐसा मैं और आप दोनों ही जिस तरह से वर्त्तमान में हैं, उसी तरह पहले थे और बाद में भी सदा रहेंगे। इसलिए जो मैंने कहा था कि सबसे पहले मैं ही रहता हूँ, यह सर्वथा युक्तिसंगत है।।१७३-७४।।

एक एवास्मि नान्योस्ति त्वमप्यस्यहमेव तु।
पश्यावां कथयावश्च त्वमहं च परस्परम्।।१७५।।

एक ही मैं हूँ अन्य दूसरा कोई नहीं है। जो आप हो वह भी **अहम्** हो जिस तरह से मैं **अहम्** हूँ। आप इस बात को क्यों नहीं ध्यान से समझते कि मैं आपको त्वम् कहता हूँ और अपने को अहम्। ठीक उसी तरह आप मुझको तुम कहते हैं और अपने को अहम्। अत: एक अहम् के अतिरिक्त की कल्पना भी सम्भव नहीं हैं।।१७५।।

विकल्पहीनमेवेदं शिवतत्त्वं विकल्पवत्[६]।
स्वातन्त्र्यसरसं नित्यमनाद्यन्तमवस्थितम्।।१७६।।

शिवतत्त्व अविकल्पक है और वही विकल्पान् संसार भी बन जाता है। स्वातन्त्र्यशक्ति, आत्मा (शिव) का आनन्दरस है जिससे वह सम्पूर्ण विश्व को अपने अन्दर रचता है, स्थापित करता है और विलय करता है। शिव का न आदि है, न अन्त है, यह तो नित्य विद्यमान है।।१७६।।

---

६. संसारो यथा तथैवेतिशेषः।

सर्वादिः सर्वमध्यस्थः सर्वस्यान्ते स्थितः शिवः।
अविकल्पो विकल्पानां सूतिकृन्मूर्तिमानिव॥१७७॥

स्वात्मशिव सभी का आदि है, सभी के मध्य में स्थित है और सबके अन्त में भी स्थित है। स्वयम् अविकल्प है किन्तु मूर्त्तिमान् की भाँति समस्त विकल्पों का सर्जक है॥१७७॥

अन्योन्यस्य परिच्छेदात् परिच्छेदो हि युज्यते।
विभक्ते विषये भाते, स्वस्मिन् स नहि युज्यते॥१७८॥

एक दूसरे का आपस में परिच्छेदन होने से वस्तु परिच्छिन्न कहलाती है। यथा– जिस बोध में घट भासित होता है उसमें पट भासित नहीं होता। वैसे ही जिस बोध में पट भासित होता है उसमें घट भासित नहीं होता। इस तरह से घटपदादि परिच्छिन्न कहलाते हैं। विवेचना करने पर पता चलता है कि प्रकाशित होनेवाली वस्तु आपस में विभाजित होती है। अतएव परिच्छिन्न होती है। किन्तु विषयों का आपस में परिच्छेदन होने पर भी सारे विषयों के प्रकाशक स्वात्मा का परिच्छेदन नहीं होता है। परिच्छेदन विषयधर्म है यह विषय में ही रहेगा प्रकाशक शिव में नहीं॥१७८॥

रम्यारम्यादिकान् भावान् अस्पृशन्नेव जायते।
अविभक्ते स्वरूपे स्वे प्रसादात्मा विनिश्चयः॥१७९॥

रमणीय एवम् अरमणीय नानाविध विषयों को प्रकाशित करने वाला शिव विषयों के स्पर्श से दूषित नहीं होता और खण्डित नहीं होता। अपने स्वरूप में विषयों का प्रकाशन करने वाला निश्चयात्मक ज्ञान, आनन्दमय प्रसादात्मा होता है, इसमें संशय नहीं है॥१७९॥

सर्वतोऽखण्डिताकारे परिपूर्णे निरर्गले।
निरपेक्षे स्वयंभाते नावच्छेदोस्ति चात्मनि॥१८०॥

स्वयम्प्रकाश आत्मा सर्वथा अखण्डबोध-रूप है, अतएव परिपूर्ण है, दोषों से वर्जित है, किसी की अपेक्षा किए विना स्वयम् भासमान है। अत: उसमें कोई संकोच, परिच्छेद अथवा अल्पता नहीं हो सकती॥१८०॥

एकेन प्रभुणा व्याप्तं सर्वमेतच्चराचरम्।
यदा तदाहमन्यो वा नास्मि नास्त्यस्ति मे प्रभु:॥१८१॥

समस्त चराचर जगत् एक महार्थ परमेश्वर से व्याप्त है। अत: विकल्पात्मक "मेरे और तेरे" का अस्तित्व नहीं, प्रत्युत अविकल्पक एक परमेश्वर ही अस्तितावान् है॥१८१॥

अस्ति सत्ता तदीयैव नान्यस्यास्ति कदाचन।
प्रभुरेक: शिव: स्वच्छो नाहमस्मि कदाचन॥१८२॥

प्रभु की ही एक मात्र सत्ता है। अन्य किसी की कभी भी कोई सत्ता नहीं है। प्रभु एक हैं, शिवमय हैं, स्वच्छ हैं। खण्ड-रूप में भासित होने वाला मैं, तुम और अन्य कभी भी यथार्थ अस्तित्व से नहीं जुड़ता॥१८२॥

वक्ता देहाभिमानस्य कृत्वा त्यागं कथं भवेत्।
वक्ति चेद् देहवानस्ति प्रमाता ज्ञानवानपि॥१८३॥

देहाभिमान का त्याग करके वक्तृत्व सम्भव नहीं है। अत: ज्ञानवान् प्रमाता यदि वक्ता है तो उसका देहवान् होना अनिवार्य होता है। अत: देह, बाधक नहीं अपितु साधक ही होता है– अपने पूर्णबोधोदय में॥१८३॥

अगाधशब्दार्णवमग्नचेतसो
विकल्पकल्लोलविधूतनिश्चया:।

इतस्ततोऽजस्रपरिभ्रमज्जनाः
स्वभावसिद्धं कथमाप्नुयुः शिवम्।।१८४।।

शब्दों का सागर अतलस्पर्शी होने से अगाध है। शब्दों के परस्पर विरोधी अर्थजाल में जिनका चित्त उलझ जाता है उनका निश्चयात्मक ज्ञान विकल्पात्मक तरंगों से कम्पित हो जाता है। फलस्वरूप लोग इतस्ततः (इधर-उधर) निरन्तर भटकने लगते हैं। ऐसे लोग स्वतःसिद्ध शिवभाव का प्रबोध कैसे प्राप्त कर सकते हैं?।।१८४।।

एकोऽद्वितीयोऽस्म्यहमेव सर्वं
विश्वं विभातीह मयि प्रकाशे।
बुद्धौ शरीरेऽपि बहिश्च भात्वा[७]
बध्नाति मामेव विकल्पताप्तम्।।१८५।।

मैं एक हूँ, द्वितीय-वर्जित हूँ क्योंकि सब कुछ मैं ही हूँ। प्रकाश-स्वरूप स्वात्ममहेश्वर से ही सारा विश्व भासित हो रहा है। दृश्य जगत् हमारी बुद्धि में, शरीर में और बाहर भी हमसे ही प्रकाशित होकर हमारा ही विकल्प बनकर हमें बन्धन में डाल देता है।।१८५।।

आकाश एकोस्ति यथा च वायु-
र्वह्निर्जलं भूमिरभिन्नभिन्नः।
स्वात्मा तथैवास्ति सदैक एव
सर्वावभातापि विभिन्नरूपः।।१८६।।

अत्यन्त सहज बात भी कभी-कभी लोग नहीं समझ पाते हैं। यथा आकाश इतना विराट् होने पर भी एक है। सदा गतिशील वायु अखण्ड, एक है। ऐसे ही वह्नि भी एक, जल भी एक और भूमि भी

७. भूत्वा।

एक है। भले ही आपस में इनके बहुत सारे भेद हों। उसी तरह स्वात्मा भी सदा एक ही रहता है। यह बात अलग है कि विभिन्न वस्तुओं को भासित करने के कारण वह भिन्न-भिन्न रूपों वाला प्रतीत हो।। १८६।।

एकोपि देशकालाभ्यां भिन्नोऽनेकश्च दृश्यते।

अनेकोऽप्येकतां याति देशकालप्रयोजनैः।। १८७।।

एक वस्तु देश-भेद एवम् काल-भेद से भिन्न-भिन्न अनेक रूप में भासित होती है तथा अनेक वस्तु भी देश, काल एवम् प्रयोजन के भेद से एक बन जाया करती हैं। जैसे तीन पतले-धागे गुणित होने पर एक मोटी रस्सी के रूप में परिणत हो जाते हैं अथवा विभिन्न वृक्षों का समुदाय एक वन बन जाता है।। १८७।।

अन्तर्बहिर्भातमिदं समस्तं
शब्दार्थरूपं विषयप्रवालम्।
स्वतः समुद्भूय विलीयमानं
स्वस्मिंश्च पश्यन्नहमस्मि हृष्टः।। १८८।।

हमारे अन्तःकरण के अन्दर अथवा बाहर हमसे ही प्रकाशित होने वाला शब्दमय एवम् अर्थमय वस्तुसमूह मुझसे न केवल उत्पन्न होता है प्रत्युत मुझमें ही विद्यमान रहकर विलीन हो जाता है। इस तरह से अपने स्वरूप में ही इस घटना को देखता हुआ मैं अत्यन्त प्रसन्न (हर्षित) रहता हूँ।। १८८।।

विश्वात्मसात्कारसमाधिभूमिः
सिद्धैव सिद्धस्य, न साधनीया।
अत्यक्तदेहात्ममतेः पशोस्तु
दृश्या न सा यत्नशतैः कदापि।। १८९।।

सिद्धपुरुष को सदा समाधि-भूमि प्राप्त रहती है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात् कर लेना ही समाधि है। वह साध्य नहीं होती, वह तो विद्यमान होती है पर पशुभाव में जीने वाला मानव, देह के अतिरिक्त आत्मा को समझ ही नहीं पाता। अत: सैकड़ों यत्न करने पर भी उसे समाधिभूमि का साक्षात्कार नहीं होता।।१८९।।

सर्वावभासस्य च जन्मदोऽहम्-
आधारभूतश्च विलोपकश्च।
नित्यं कथं मा वृणुयात् स मज्जोऽ
नित्यो गताशु: प्रतिभासरूप:।।१९०।।

सभी दृश्यज्ञान—को मैं ही जन्म देता हूँ, मै ही उसकी आधारभूमि हूँ और मुझ में ही वह विलीन हो जाता है। इस प्रकार मेरे प्रकाश से प्रकाशित जगत् मुझ से जन्म लेकर मुझमें ही विलीन होने वाला है। अनित्य-जगत्, नित्य सनातन आत्ममहेश्वर को आच्छादित नहीं कर सकता।।१९०।।

सम: स्थिर: सर्वमय: समग्र:
प्रकाशमानोस्मि च नित्य एक:।
न मे विकारोपजनस्य हेतु-
र्भातोऽप्ययं मायिकरूपभेद:।।१९१।।

मै सम हूँ, स्थिर हूँ, सर्वमय हूँ, समग्र रूपों में भासित हूँ, प्रकाशस्वरूप हूँ, नित्य और एक हूँ। माया-शक्ति से अनेक रूप से भासित होता हुआ यह जगत् न तो मुझको विकृत कर सकता है और न ही मेरी कमी को दूर करके मुझमें किसी प्रकार की वृद्धि कर सकता है।।१९१।।

प्रभे! त्वत्प्रभया दीप्ता त्रिलोकीयं तवानुगा।
मा भैषीरनया स्वस्यच्छायया त्वं सदा स्थिरा॥१९२॥

हे प्रभे! तुम्हारी प्रभा से प्रकाशित होने वाली यह त्रिलोकी तुम्हारे पीछे चलने वाली है। तू सदा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हो। अत: अपनी छाया रूप त्रिलोकी से डरो मत॥१९२॥

पौन:पुन्यप्रकाशेन विमर्शसहितेन च।
विकासक्रिययैवेयं दृश्यतेऽनन्तरूपता॥१९३॥

स्वात्ममहेश्वर विविधरूप से प्रकाशशील है और वह प्रकाश सदा विमर्श-शक्ति से अवियुक्त रहता है। इस प्रकार स्वयम् की विकासक्रिया से यह अनन्त-रूपता दृष्टिगोचर होती है॥१९३॥

स्वस्यानन्तस्वरूपत्वं प्रत्यक्षं परिदृश्यते।
तस्यैव येन संत्यक्त: संकोच: संविद: स्वत:॥१९४॥

जिस साधक ने अपनी संविद् के संकोच को स्वयम् ही परित्याग कर दिया है उसे अपनी अनन्त-रूपता का प्रत्यक्ष आभास होता है॥१९४॥

व्यापकस्वस्वरूपेस्ति निश्चला यस्य वै मति:।
त्यक्तदेहात्मभावस्य तस्यालभ्यं न किञ्चन॥१९५॥

जिसने देह में आत्मबुद्धि का परित्याग कर दिया है और व्यापक शिवस्वरूप में आत्मभाव को दृढ़ता से अङ्गीकार कर लिया है। ऐसे साधक के लिए इस संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं॥१९५॥

अस्म्यहं सर्वत: पूर्वं सर्वभानावभासक:।
नान्योस्ति भासक: कश्चित् स्वप्रकाशमयस्य मे॥१९६॥

किसी भी दृश्य का कोई भी भान मुझसे ही होता है। अत:

समस्त दृश्य से पूर्व मेरा ही अस्तित्व रहता है। यतश्च मैं स्वप्रकाशमय हूँ, अत: मेरा अन्य कोई प्रकाशक सम्भव नहीं है।।१९६।।

सर्वात्मभावमापन्नो विश्रान्तश्च निजात्मनि।
न परिच्छिन्नभावेषु योगी मुह्यति तत्त्वदृक्।।१९७।।

तत्त्वद्रष्टा योगी-जन सर्वात्मभाव से परिपूर्ण होते हैं, अपने ही स्वरूप में विश्रान्त होते हैं अत: परिच्छिन्न वस्तुओं में मोहवान् नहीं होते।।१९७।।

अलक्ष्यमेव मे लक्ष्यमहमर्थ: स एव हि।
स सिद्ध: सर्वदैवास्ति कर्त्तव्यं किं भवेत् पुन:।।१९८।।

स्वस्वरूप अप्राप्त नहीं होता और अप्राप्त को पाने के लिए ही लक्ष्य बनाया जा सकता है। साधक का लक्ष्य स्वात्मा है। यत: वह सदा प्राप्त है अत: वह लक्ष्य नहीं हो सकता। वही आगम में **अहमर्थ** के रूप से प्रतिपादित है। यतश्च अहमर्थ सदा सिद्ध है अत: उसकी प्राप्ति हेतु कोई भी कर्त्तव्य अपेक्षित नहीं हो सकता।।१९८।।

स्थितानि मयि सर्वाणि मत्त एवोद्भवन्ति च।
दर्शयित्वा स्वकं रूपं लीयन्ते मोहयन्ति माम्।।१९९।।

सारे जगत् मुझमें ही स्थित रहते हैं क्योंकि ये मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। पर, विडम्बना यह है कि ये अपना रूप दिखाकर हमें मोहित करते है जबकि इनका लय मुझमें ही होता हैं।।१९९।।

यदि नाहंविमर्शेन स्वीयेन बलवानिव।
भवेयं तर्हि मामेव कुर्वन्ति विगतप्रभम्।। २००।।

यदि अपने अहम्-विमर्श से मैं अपने को बलवान् न बना रखूँ अर्थात् अहम्-विमर्श को भूल जाऊँ तो मुझसे प्रकाशित दृश्य जगत्,

मुझे ही मोहित कर मुझे निष्प्रभ बना डालेंगे।। २००।।

अथवा पुनरायाति संकोचो देशकालकृत्।
ततो व्याप्यत्वमायाति जीवता विस्मृतात्मनः।। २०१।।

अथवा अहम्-विमर्श की विस्मृति होने से देशकृत एवम् कालकृत परिच्छेदन अपने स्वरूप में भासित होने लगता है। अतः अपनी व्यापकता भूल जाती है और व्याप्यता की भ्रांति होने लगती है। स्वरूप की यह विस्मृति ही हमें जीव की श्रेणी में खड़ा कर देती हैं।। २०१।।

अत एव सदा स्थेयं विमर्शेनाहमात्मना।
युतेनैव च विज्ञेन जीवन्मुक्त्यभिलाषिणा।। २०२।।

अतः जीवन्मुक्ति की अभिलाषा वाले विज्ञ महापुरुषों को सदा पूर्णाहम्विमर्श की स्मृति में उल्लसित रहना चाहिए।। २०२।।

समः सदैवैकरसः स्वतन्त्रः
स्वाच्छन्द्यलीलाललितस्वभावः।
शून्यादिदेहान्तमिवावभास्य
स्वयम्प्रकाशोस्मि शिवोऽद्वितीयः।। २०३।।

मै सम हूँ, सदा एकरस हूँ, स्वतन्त्र हूँ, पवित्र स्वच्छन्दता की लीला से ललितस्वभाव वाला हूँ। शून्य, प्राण, बुद्धि, मन, इन्द्रिय एवम् देहपर्यन्त को आभासित कर मैं अद्वितीय शिवरूप में स्वयम् प्रकाशमान हूँ।। २०३।।

आत्मानमीश्वरं जानन् पश्यन् ज्ञानक्रिये ततः[८]।
आविशन्नेति चैश्वर्यं त्यजन् देहं भवेच्छिवः।। २०४।।

---

८. स्वतः।

साधक स्वयम् को ईश्वर जानता हुआ, स्वयम् में ज्ञान और क्रिया को देखता हुआ, ऐश्वर्य से भरित होता हुआ देहात्मभाव का परित्याग करता हुआ शिवता की अनुभूति करता है।। २०४।।

प्रत्यभिज्ञां त्यजन् सद्यो जीवत्वं प्रतिपद्यते।
आक्रान्तः सूर्यचन्द्राभ्यां देहगो मृत्युमाप्नुयात्।। २०५।।

इसके विपरीत सामान्यजन अपनी शिवता की पहचान का परित्याग करते ही सद्यः जीवभाव में प्रविष्ट हो जाता है। फिर तो सूर्य और चन्द्र की क्रिया से अपना परिच्छेदन करता हुआ व्यक्ति, देहमात्र में अपनी स्थिति मान बैठता है और मृत्यु का ग्रास बन जाता है।। २०५।।

ज्ञेयः सदैव परमामृतवर्षरूपः
स्पन्दःस्वभावचलितःस्वविमर्शरूपः।
तेजस्त्रयप्रसवभूरपि चैकरूप
आद्यन्तभानरहितो निजभानरूपः।। २०६।।

एकमात्र स्पन्द, साधक के लिये प्रयत्नपूर्वक ज्ञेय है। वह सदा परामृत की वृष्टि करता है। वह स्वतः स्फूर्त है और निजविमर्श है। शशि-भानु-कृशानु (अग्नि) त्रिविध तेज की प्रसव-भूमि होने पर भी स्पन्दन सदा एकरूप रहता है। वह अजन्मा एवम् अविनाशी है और स्वप्रबोधमय है।। २०६।।

पाशानां समनान्तानामात्मत्वेनाभिचिन्तनम्।
परित्यज्य स्वरूपस्य चिन्मात्रस्य विचिन्तनम्।।
आत्मव्याप्तिस्ततोऽन्येयं शिवव्याप्तिः प्रदर्श्यते।। २०७।।

समनापर्यन्त आठ पाशों का आत्मरूप से चिन्तन करने के

कारण जीव, पशु कहलाता है। पर, साधक उसका परित्याग कर चिन्मय निजस्वरूप का चिन्तन करता है। आगम में इसे **"आत्मव्याप्ति"** कहा जाता है। इससे ऊर्ध्व **"शिवव्याप्ति"** की स्थिति होती है।। २०७।।

सर्वज्ञत्वादिकान् धर्मान् सर्वकर्त्तृत्वसंयुतान्।
स्वस्मिन् भावयतस्तूर्णं शिवव्याप्तिः प्रजायते।। २०८।।

सर्वज्ञत्व, सर्वकर्त्तृत्व, सर्वैश्वर्य, नित्यमुक्तत्व आदि शिवधर्मों को स्वयम् में भावना करने से शिवव्याप्ति प्रकाशित होती है।। २०८।।

विश्वावभासिका शक्तिरिच्छाज्ञानक्रियात्मिका।
पूर्णैवापूर्णतां याति भासयन्तीव किञ्चन।। २०९।।

निजशक्ति, सम्पूर्ण विश्व की प्रकाशिका है। इच्छाज्ञानक्रियामयी है, अतएव पूर्ण है। किन्तु वही शक्ति, यत्किंचित् वस्तु का भासन करने लगती है तो अपूर्ण हो जाती है।। २०९।।

व्यापारं मानसं भाति बोधरूपतया यदा।
तदा शिवत्वमाभाति स्थितं यद्धि सनातनम्।। २१०।।

हमारी मनोवृत्ति संविद् के अनुग्रह से जब बोधरूप में विश्रान्त होती है, तब सदा विद्यमान शिवता का प्राकट्य होता है।। २१०।।

तदैव शिवता भाति सर्वरूपतया स्थिता।
सर्वानर्थानभेदेन यदात्मन्येव पश्यति।। २११।।

सर्वरूप में शिवता स्थित है किन्तु वह भासित तब होती है जब साधक स्वयम् में सभी वस्तुओं को अभेदरूप से देखता है।। २११।।

सूर्य्योपि मय्येव विभाति चन्द्रस्
तारागणो विष्णुपदं च वायुः।
अग्निर्जलं भूश्च निजं परं च
तस्मादहं भूतचयस्य भर्त्ता।। २१२।।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रगण, आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि, अपना और पराया सबकुछ मुझ स्वात्ममहेश्वर में ही भासित होते हैं। अत: मैं चराचर जगत् का आपूरक स्वामी हूँ।। २१२।।

अलक्ष्यं व्यापकं नित्यं चिन्मयाह्लादनिर्भरम्।
स्वरूपं राजते यत्तद् भुक्तिमुक्तिप्रदं भजे।। २१३।।

निजरूप नित्यप्राप्त होने से अलक्ष्य है, व्यापक है, नित्य है, चिन्मय है, आह्लादमय है, भोग और मोक्ष को देने वाला है तथा सदा विराजमान है। अत: मैं स्वरूप का ही भजन करता हूँ।। २१३।।

अलक्ष्यं व्यापकं नित्यं चिन्मयाह्लादनिर्भरम्।
भ्राजमानं सदैवाहं भजे स्वात्मानमव्ययम्।। २१४।।

मैं अलक्ष्य, व्यापक, नित्य, चिन्मय, आह्लादरूप, देदीप्यमान, अव्ययस्वरूप स्वात्ममहेश्वर का आश्रय ग्रहण करता हूँ।। २१४।।

नित्यसिद्धं स्वरूपं मे साध्यं प्राप्यं न विद्यते।
प्राप्तुं साधयितुं वाञ्छां कुर्वाणः स्यात् सदाऽशिवः।। २१५।।

मेरा स्वरूप सदासिद्ध है, साध्य अथवा प्राप्य नहीं है। जो व्यक्ति स्वरूप की प्राप्ति या सिद्धि की इच्छा करता है, वह व्यक्ति अशिव हो जाता है। ऐसा कहें, जीवभाव से आबद्ध हो जाता है।। २१५।।

तिष्ठन् स्वस्मिन् पुनः स्थातुं यतते ज्ञो न कर्हिचित्।
अज्ञःस्याद् यतमानस्तु ज्ञोपि ज्ञानविवर्जितः।। २१६।।

ज्ञानवान् व्यक्ति, स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता हुआ पुनः स्थिति का प्रयास कभी नहीं करता। इसके विपरीत आत्मा के सहज ज्ञानरूप होने पर भी अज्ञ व्यक्ति ऐसा प्रयत्न करता हुआ देखा जाता है। फलस्वरूप वह ज्ञान से च्युत हो जाता है।। २१६।।

देहावलोकनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा स्पन्दावलोकनम्।
निर्विकल्पः सदैवास्मि स्वानन्दभरितोल्लसन्।। २१७।।

शिवयोगी देहदृष्टि एवम् स्पन्ददृष्टि का परित्याग कर देता है, निर्विकल्प- दशा में स्थित रहता है और स्वानन्द-परिपूर्ण होकर उल्लसित होता है।। २१७।।

स्वयम्प्रकाशस्त्वहमस्मि शुद्धः
सदैव सिद्धः स्वकिल्पहीनः।
यदा तु बोद्धुं स्वमहं स्वयं वै
यते तदैव प्रभवाम्यसिद्धः।। २१८।।

स्वात्ममहेश्वर मैं स्वप्रकाश हूँ, परिशुद्ध हूँ, विकल्पनाओं से परे हूँ। किन्तु मैं जब स्वयम् ही स्व को जानने के लिये प्रयत्न करता हूँ उसी समय सिद्धस्वरूप होने पर भी अपने को अपूर्ण एवम् साध्य मान बैठता हूँ।। २१८।।

स्थितः सदैवास्म्यहमद्वितीयो
विभाति मय्येव शरीरितेयम्।
शरीरभानात् प्रभवन्ति भावा
भवामि तैरेव विलुप्तबोधः।। २१९।।

मैं द्वैतवर्जित हूँ, सदा स्थितिशील हूँ, शरीरी होना भी मुझसे ही भासित है। शरीरभान से ही सारे विश्व का भान होता है और विश्वभान होने से स्वरूपभान विलुप्त हो जाता है।। २१९।।

नित्यस्य शुद्धस्य विकारिता[१] क्व
बन्धोपि मोक्षोपि न तस्य चास्ते।
सोहं शिवः सर्वमयोस्मि चैकः
स्वयम्प्रकाशश्च सदा विभातः।। २२०।।

स्वात्महेश्वर नित्यशुद्धबुद्ध-स्वभाव है। उसमें विकार अथवा देहभाव आगन्तुक है। बन्ध और मोक्ष कल्पित है। मैं शिव से अतिरिक्त नहीं हूँ, सर्वमय हूँ, एक हूँ तथा सदा प्रकाशमान हूँ।। २२०।।

प्रकाशमानश्च विकासमानो
नोपैमि संकोचमहं स्वतन्त्रः।
देहावभासेन विभासमानं
विश्वं विभात्येव मयि प्रकाशे।। २२१।।

मैं प्रकाशरूप हूँ, सदा विस्फुरणशील हूँ, स्वतन्त्र हूँ, कभी भी संकुचितस्वरूप नहीं हूँ। देहदृष्टि के उदय होने से प्रकाशित होता हुआ विश्व, प्रकाशरूप शिव में ही स्थित रहता है।। २२१।।

यो वेत्ति सर्वं तनुते च सर्वं सर्वं करोति स्वयमक्रियः सन्।
पश्यँश्च शृण्वन्न च मोहमेति तस्मै नमो मे विदुषे शिवाय।। २२२।।

जो सबको जानता है, सबको विस्तारित करता है, सबको बनाता है किन्तु क्रिया का विषय नहीं होता है, जो सब कुछ देखता हुआ और सब कुछ सुनता हुआ भी मोह से परे होता है। ऐसा विद्वान्, स्वात्ममहेश्वर नितराम् नमस्य है।। २२२।।

मालिन्यं परिहाय पाणिनिमुनेस्तीर्थेषु संस्नापिता
साङ्कर्यं परिमुच्य चार्थनिवहैर्ध्यानेन संशोधिता।

१. शरीरिता।

स्वात्मन्येव निवेशिता शिवगुरोः श्रीलक्ष्मणस्याज्ञया
वाग्देवी जयति प्रसादमधुरा धन्यस्य कस्यापि मे।। २२३।।

लाखों में एक मुझ जैसे धन्य व्यक्ति की वाणी प्रसाद और माधुर्य से युक्त है अत एव विजयशील है। कारण यह है कि पाणिनीय व्याकरण में भली-भांति निमज्जन कराने से वाणी के सारे मल दूर हो चुके हैं। आत्ममहेश्वर के ध्यान करने से परिच्छिन्न वस्तुजात के साथ उसका कोई भी सम्मिश्रण नहीं हुआ। अतः वह परिशोधित हो चुकी है। मैंने शिवयोगी श्रीलक्ष्मणजूदेव गुरु की आज्ञा से अपनी पवित्र वाणी को स्वात्ममहेश्वर के अनुशीलन में ही व्यापृत कर दिया है।। २२३।।

शुद्धतत्त्वात्मिका शक्तिर्वाग्देवी प्रविजृम्भते।
शिवब्रह्मादि-संज्ञैकाऽनन्तविश्वगिरात्मिका।। २२४।।

वाग्देवी शक्ति नामक शुद्धतत्त्व है। शक्ति एक है, वह शिव, ब्रह्मा और विष्णु कहलाती है तथा संसार के अनन्त शब्दों के रूप में फैली है।। २२४।।

श्रुतं न किं किं न कृतं च किं किं
दृष्टं न किं किं न च तृप्तिमाप्तः।
विस्मृत्य देहं निजधामनिष्ठः
पूर्णः सदैवैकरसोस्मि तृप्तः।। २२५।।

जीव-भाव में रहकर एक जन्म में या जन्मजन्मान्तर में प्राणी क्या-क्या नहीं सुनता है, क्या-क्या नहीं करता है और क्या-क्या नहीं देखता है किन्तु जिस तृप्ति के लिए सारे प्रयास किए जाते हैं, वह तृप्ति नहीं मिल पाती। वही प्राणी गुरुकृपा होने पर देहभाव भूल जाता है और साधक निजस्वरूप की महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह निजपूर्णता

की प्रत्यभिज्ञा से एकरस की अनुभूति करता है और परितृप्त होकर कृतकृत्य हो जाता है।। २२५।।

यन्मन्महः सर्वमहो निदानं
सूर्यादिमह्यन्तविभासकञ्च।
तस्मै नमो मे महसे च मह्यं
साम्बाय शुद्धाय सदाशिवाय।। २२६।।

संसार में यावत् (जितने) तेज हैं उनका स्रोत स्वात्मतेज है। वह सूर्य से लेकर पृथ्वी–पर्यन्त भूतभौतिक वस्तुओं का प्रकाशक है। वह प्रकाशशील होने से शिवरूप है और विमर्शमयी जगज्जननी शक्ति से युक्त है। ऐसे स्वात्ममहेश्वर को मेरा नमस्कार अर्पित हो।। २२६।।

प्राप्तानुत्तरवैभवस्य सहजानन्दोत्सवासङ्गिनो
भेदाभेदविभासनैकवपुषः सर्वात्मनः स्वात्मनः।
लीलाकल्पितकार्यकारणजुषः स्वातन्त्र्यशक्त्योन्मिषद्
भूतं भावि भवच्च दृश्य[10]मधुना सर्वं स्वरूपायते।। २२७।।

श्रीगुरुकृपा से अनुत्तर शिव का महिमामय वैभव प्राप्त होता है। फलस्वरूप स्वात्ममहेश्वर, सहजानन्द महोत्सव का रसास्वादन करने लगता है। भेद और अभेद का भान करने वाला सर्वात्मा स्वात्मदेव सांसारिक कार्यकारणभाव को भी अपनी लीला से कल्पित कर लेता है, और उसे सारा विश्व अपना स्वरूप ही प्रतीत होने लगता है। उसके लिए भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्पूर्ण दृश्य अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति का उन्मेष है, अन्य कुछ नहीं।। २२७।।

---

१०. भान।

नित्यः सिद्धः प्रकाशात्मा सर्वतः प्रथमं स्थितः।
चकास्ति स्वात्मना स्वात्मा सर्वाधारतया स्थितः॥ २२८॥

जिसे नित्य में अनित्यता दीखती है, पूर्ण में अपूर्णता प्रतीत होती है और स्वप्रकाश में प्रकाशान्तरसापेक्षता का भान होता है वह मूढ़ व्यक्ति व्यर्थ ही सफलता को खोजता है। स्वरूप नित्य है, स्वयम् सिद्ध है, प्रकाशरूप है, सभी दृश्य से पूर्वतः स्थित है, अपनी महिमा में प्रतिष्ठित और समस्त जगत् का आधार है॥ २२८॥

अहमस्म्येव चास्म्येव भवितुं मे न विद्यते।
अज्ञानी भविता भूत्वा भवन्नेव विनश्यति॥ २२९॥

मैं सदा विद्यमान ही हूँ। मुझे कुछ बनना नहीं है। अज्ञानी व्यक्ति कल्पित नए रूप से कुछ बनना चाहता है। अतः बनावटी रूप से उसका सहजरूप विनष्ट हो जाता है॥ २२९॥

निर्वासनोस्मि पूर्णोस्मि क्रिया विश्वमयी मम।
पूर्त्तिवासनया मुक्तो मुक्तस्तिष्ठाम्यहं भुवि॥ २३०॥

मैं वासनावर्जित हूँ, पूर्ण हूँ। मेरी क्रिया विश्वव्यापिनी है। मैं अपूर्ण को पूर्ण करने की वासना से निर्मुक्त होने के कारण इस धरती पर मुक्तभाव से विचरण करता हूँ॥ २३०॥

न त्यजामि न गृह्णामि सुखी दुःखी भवामि न।
सदैवैकरसः पूर्णो न निर्देहो न देहवान्॥ २३१॥

सर्वरूप होने से मैं न किसी वस्तु का त्याग करता हूँ, न संग्रह, न सुखी होता हूँ न दुःखी, सदा एकरस रहता हूँ, न देहविहीन होने की चेष्टा करता न देही बनने की॥ २३१॥

ज्ञांतव्यमथवा ग्राह्यं स्वरूपं न कदाचन।
स्वभिन्नंतुयदागच्छेत् तदुपेक्ष्यं हि यत्नतः।। २३२।।

स्वरूप से पृथक् जानने की चेष्टा अथवा ग्रहण करने की चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि स्व से भिन्न जो कुछ भी समझ में आये उसकी प्रयासपूर्वक उपेक्षा करनी चाहिये।। २३२।।

नित्योस्मि स्वच्छः परमार्थभूतः
पूर्णोऽस्म्यभिव्याप्य जगत् समस्तम्।
शक्तोस्मि शक्त्या निजयेच्छयैव
स्वातन्त्र्यनाम्न्या निखिलं विधातुम्।। २३३।।

मैं नित्य हूँ, स्वच्छ हूँ, परमार्थ हूँ तथा सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने से परिपूर्ण हूँ। अपनी स्वातन्त्र्यसंज्ञक इच्छाशक्ति से मैं सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करने में पूर्ण सक्षम हूँ।। २३३।।

सन्मात्ररूपोऽस्म्यहमद्वितीयो
नित्योऽविकल्प्योऽथ समो विशुद्धः।
सर्वात्मकोऽप्यस्मि चिदात्मकत्वा–
दानन्दरूपस्तु परिस्फुरन् हि।। २३४।।

मैं सन्मात्ररूप हूँ, द्वैतवर्जित हूँ, नित्य हूँ, विकल्प का अविषय हूँ, सम और विशुद्ध हूँ। मैं चिदात्मा होने से सर्वात्मा हूँ तथा वेद्यरूप से परिभासित होने से जगदानन्द भी हूँ।। २३४।।

देहप्राणविकल्पनाविरहितो दिग्देशकालक्रिया–
शून्यः, शान्तमनाः, स्वभावविमले तिष्ठन् स्वरूपे निजे।
ध्वस्तध्वान्तसमस्तभावनिवहः स्वच्छः स्वतन्त्रः स्वराट्
प्राप्तोनुत्तरवैभवोस्मि सहजानन्दोर्मिलीलारतः।। २३५।।

मैं देह-प्राण की विकल्पनाओं से उत्तीर्ण हूँ, दिशा-देश काल-क्रिया से वर्जित हूँ, शान्तमनस्क हूँ, स्वभाव से विमल निज स्वरूप में स्थित रहता हूँ। मेरे समस्त दृश्यरूप घनान्धकार गुरुकृपा से ध्वस्त हो गये हैं। अतः मैं स्वच्छ स्वतन्त्र एवम् स्वराट् हूँ, अनुत्तर वैभव को प्राप्त कर चुका हूँ तथा सहजानन्द तरङ्ग की लीला में संलग्न हूँ॥ २३५॥

गुरुघटितविवेकः स्वात्ममात्रेण तुष्टो
गलितसकलभेदो भानमात्रैकरूपः।
अपि विलसितभेदेऽप्यात्मजा तत्त्वदृष्टि-
र्भवति जगति कश्चिद् देहवानेव मुक्तः॥ २३६॥

श्रीगुरुकृपा से विवेकबुद्धि प्राप्त हो गई है, स्वरूप में प्रतिष्ठा हो गई है। मेरे सकलभेद विगलित हो चुके हैं। मैं भानमात्रस्वरूप हूँ, भेदों का विलास मुझसे उत्पन्न हुए हैं– इस तरह देहवान् रहकर मैं जीवन्मुक्त हो गया हूँ। संसार में विरले को ही ऐसी स्थिति प्राप्त होती है॥ २३६॥

देहात्मनो बोध्यमिदं समग्रं
स्वस्माद्विभिन्नं हि यथा विभाति।
देहोपि ज्ञेयत्वमुपागतोऽयं
स्वस्थस्य मे भाति स्वतोऽविभिन्नम्॥ २३७॥

जैसे देहात्मा जीव को सारा वेद्य अपने से भिन्न प्रतीत होता है वैसे ही स्वात्ममहेश्वर में प्रतिष्ठित हुए मुझे यह देह भी मुझसे भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः अन्य वेद्य की तरह देह भी मुझसे ही प्रकाशित है॥ २३७॥

आनन्दरूपोस्मि शिवोऽद्वितीयः
स्वेच्छाविहारी जगदेकरूपः।
गृह्णामि वायुं न शरीरसंस्थं
भामात्ररूपः कलनाविहीनः॥ २३८॥

मैं आनन्दरूप हूँ, अद्वितीय शिव हूँ, इच्छाशक्ति के सहारे विचरणशील हूँ तथा जगत्स्वरूप हूँ। मैं शरीरस्थित वायु का ग्रहण नहीं करता, महावायु से सम्बन्ध जोड़ लिया हूँ, कल्पनाविहीन हूँ एवं भानमात्ररूप हूँ॥ २३८॥

सन्मात्ररूपोस्मि सदैव शान्तो
नित्यत्वशुद्धत्व– समत्वजुष्टः।
स्पन्दायमानश्च चिदात्मकत्वा–
दानन्दपूर्णोस्मि विभुर्विचित्रः॥ २३९॥[११]

मैं सन्मात्ररूप हूँ, शान्त हूँ, नित्य-शुद्ध सम हूँ, स्पन्दशील हूँ। मैं चिदात्मा होने से आनन्दभरित हूँ, प्रभु हूँ तथा चित्ररूप हूँ॥ २३९॥

अद्यानुभूतौ न विभाति भेदो
जानामि नाहं क्व गतोस्ति देहः।
आह्लादपूर्णोऽस्म्यहमद्वितीयो
निर्मुक्तदिग्देशविभासमानः ॥ २४०॥

आज मुझे जो अनुभूति हो रही है उसमें भेद-भान विलुप्त हो चुका है, देह कहाँ चला गया? कुछ समझ में नहीं आ रहा है। मैं आह्लादभरित हूँ, अद्वितीय हूँ एवं दिशा और देश के भान से मुक्त हो गया हूँ॥ २४०॥

---

११. सन्मात्ररूपोस्मि सदैकरूपो नित्यो विशुद्धोऽथ समः सुसिद्धः।
संस्पन्दमानश्च चिदात्मकत्वादानन्दपूर्णः प्रथमानरूपः॥

नासि त्वं क्रमिको देव! नित्यः सद्यो विभास्यतः।

त्वदभिन्नतया भातु भातं सर्वमिदं कुरु।। २४१ ।।

हे देव! तू क्रम-प्राप्त नहीं हो, नित्य हो, सद्यः भासमान हो। अतः प्रकाशित होने वाला समस्त विश्व तुझसे अभिन्न रूप में मुझे भासित हो- ऐसी कृपा करो।। २४१ ।।

सर्वत्रास्मि सदैवास्मि सर्वरूपश्च सर्वभृत्।

न भिन्नं ज्ञेयमज्ञेयान्मत्तो ज्ञातुः सनातनात्।। २४२ ।।

मैं सर्वत्र हूँ, सदा हूँ, सर्वरूप हूँ, सर्वधारक हूँ। मैं ज्ञाता हूँ, अज्ञेय हूँ, सनातन हूँ। कोई भी ज्ञेय वस्तु मुझसे भिन्न नहीं है।। २४२ ।।

भातः कालश्च देहश्च सखण्डोऽखण्ड एव च।

अनाद्यनन्तरूपस्य ममैकस्य स्वभावतः।। २४३ ।।

मैं अनादि और अनन्त हूँ, एक हूँ। मुझे काल और देह खण्ड एवम् अखण्ड रूप में स्वभावतः भासित होते हैं।। २४३ ।।

चिद्घनानन्दशक्तेर्मद् विश्वमाकाशतः स्फुरद्।

मदभिन्नस्वरूपस्य भाति तत्रस्थ- देहिनः।। २४४।।

हे अन्तेवासिन्! चिद् एवम् आनन्दशक्तिसम्पन्न अहमात्मा स्वात्ममहेश्वर से स्फुरित होने वाला यह विश्व है। अहमर्थ—स्वरूप चिन्मय देही तू हो और मैं भी हूँ। हमारे विना यह विश्व भासित नहीं होता है।। २४४।।

अभिज्ञानवतः पुंसो मद्रूपत्वमुपेयुषः।

तिष्ठतो मत्स्वरूपेण विश्वं लीलायते सदा।। २४५।।

जो व्यक्ति स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा प्राप्त कर अहमर्थ में प्रतिष्ठित हो जाता है उस शिवयोगी के लिये यह विश्व अपनी लीला के रूप में दिखने लगता है।। २४५।।

प्रकाशनिबिडाद्वैते मयि भाते न भान्त्यमी।

भावा विच्छिन्नरूपा ये सुखदु:खादिहेतव:।। २४६।।

प्रकाशघन अद्वय स्वात्ममहेश्वर के प्रकाशमान रहने से ही सभी वेद्य भासित होते हैं। ये वेद्य खण्डरूप हैं तथा सुख-दुख– मोह को उत्पन्न करते हैं।। २४६।।

ब्रह्माण्डपिण्डाण्डमिदं प्रवृद्धं

यस्मिन्ननेकं ननु मय्यनन्ते।

सोहं निराभाससदावभास-

रूपश्चिदाह्लादमयोऽद्वयोस्मि।। २४७।।

मैं अविनाशी तथा चिन्मय हूँ। मुझमें अनेक ब्रह्माण्ड (समष्टि) एवम् पिण्डाण्ड (व्यष्टि) की सृष्टि होती है। मैं स्वप्रकाश हूँ, भानरूप हूँ, अद्वय हूँ तथा आह्लादमय हूँ।। २४७।।

स्वाभिज्ञयाऽवाप्तमहेशभावो

नाप्तुं न हातुं यतते कदाचित्।

उन्मीलिताद्वैततृतीयनेत्र:

पञ्चापि कृत्यानि हसंस्तनोति[१२]।। २४८।।

निजस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा से जिसने महेश्वरता का साक्षात्कार कर लिया है वह प्राप्ति एवम् त्याग के लिये प्रयत्नशील नहीं होता। शिवकृपा से जिसका ज्ञाननेत्र खुल जाता है वह पञ्चकृत्य- सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह एवम् अनुग्रह का सम्पादन हँसता हुआ करता है।। २४८।।

---

१२. स्वाभिज्ञोच्छलितानन्दो महास्पन्दसमन्वित:।
आप्लावितजगद्योगी कोपि भाति चिदम्बुधि:।।

प्रकाशमानेपि निजस्वरूपेऽप्रकाशमानान्यदिवास्ति यद्धि।
एषैव मायास्ति विमोहदात्री भेदप्रथादानमयी सदैव।। २४९।।

स्वस्वरूप के नित्य प्रकाशमान होने पर भी जो अप्रकाशित अन्य की भाँति परिलक्षित होती है, यही माया कहलाती है। यह मोहित करती है तथा सदैव भेद-भान का दान करने में संलग्न रहती है।। २४९।।

योस्मि सोस्मि सदैवाहं नास्ति रूपान्तरं मम।
भूत्वाहं न भविष्यामि किं भवामि पुन: पुन:।। २५०।।

मैं जो हूँ, वही सदा हूँ, मेरा रूपान्तर नहीं होता। मैं प्रयास-साध्य कुछ बनकर वास्तविक रूप को प्राप्त करूँगा ऐसा बिल्कुल नहीं है। मैं पुन: पुन: नवनिर्मित रूप को धारण करने वाला नहीं हूँ।। २५०।।

शिवोऽहमानन्दघनोस्मि, देहो
विभास्यमानोस्ति न सत्यरूप:।
देहो ह्यनन्त: क्षणभङ्गुरोऽयं
नासीत् पुरा नैव पुनर्भविष्यति।। २५१।।

मैं आनन्दघन शिव हूँ, देह मुझसे प्रकाशित है और असत्य है। यह देह अनगिनत रूपों वाला है, विनश्वर है, जन्म से पूर्व नहीं रहता है एवम् मृत्यु के पश्चात् भी नहीं रहता है।। २५१।।

देहोऽयं मे महन्मित्रं शत्रुश्चापि महानयम्।
अनेनैवाभिजानामि स्वात्मानं विस्मरामि च।। २५२।।

यह देह बहुत बड़ा मित्र भी है और वैसा ही शत्रु भी। क्योंकि देहधारी होकर ही मैं गुरुदेव के अनुग्रह से स्वात्ममहेश्वर को पहचान

पाता हूँ अथवा चिरकाल तक विस्मृत कर देता हूँ।। २५२।।

निर्ज्ञाततत्त्वस्य शिवात्मकस्य
भेदः कथं क्वापि कुतश्च भायात्।
भेदोपि भात्यस्य निजस्वरूपं
दुःखं सुखं चापि न भिन्नरूपम्।। २५३।।

शिवतत्त्ववेत्ता स्वात्मज्ञानी को कहीं भी किसी प्रकार से भेद-भान कैसे सम्भव है? महापुरुष को भेद में भी स्वरूप ही दिखता है सुख-दुःख भी भिन्न नहीं प्रतीत होते।। २५३।।

विमर्शशक्तिप्रथितस्वरूपो
निरन्तराह्लादमयस्वभावः ।
विलुप्तदेहः स्फुरदात्मरूपो
विभाति कश्चिच्छिवशक्तिरूपः।। २५४।।

लाखों में एक व्यक्ति साधक होता है जो विमर्शमय प्रकाश का साक्षात्कार कर पाता है तथा अविच्छिन्न आह्लाद से परिपूर्ण रहता है, देह-भानरहित तथा आत्मज्ञान से उद्दीप्त रहता है तथा शिवशक्तिमय स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है।। २५४।।

शक्तिरभ्येति शिवतां शिवोऽप्यायाति शक्तिताम्।
यत्र सा परमावस्था सामरस्यपदाभिधा।। २५५।।

जिस अवस्था में शक्ति, शिवभाव में प्रतिष्ठित हो जाती है तथा शिव, शक्तिभाव में स्थित हो जाता है, वह सामरस्यसंज्ञक परावस्था कहलाती है।। २५५।।

देहसत्ता स्थिताप्यत्र गुणीभूता न भासते।
योगिना विधृता भाति महाविदेहधारणा।। २५६।।

उपर्युक्त अवस्था में देहसत्ता गौणभाव में विराजमान रहती है, शिवयोगी इसे अपने अधीन धारण करते हैं– यह महाविदेहधारणा शब्द से कही जाती है।। २५६।।

दृश्यादृश्यमयो देवो य एकोस्ति महेश्वरः।
सोहमस्मि सदैवाहं त्वं चायं सोपि कश्चन।। २५७।।

हे अन्तेवासिन्! भगवान् शिव दृश्य एवम् अदृश्य उभयरूप में भासित होकर भी एक ही हैं। अतएव सदैव मैं, तू, यह अथवा अन्य कोई भी "सोऽहमस्मि" के परामर्श से विजृम्भित (उल्लसित) है।। २५७।।

निरञ्जनो भानविवर्जितोहं
स्वयम्प्रकाशो निखिलप्रकाशः।
अविक्रियोऽनीदृशतादृशो न
सनातनो बोधघनः समाधौ।। २५८।।

मैं निरञ्जन हूँ, भानवर्जित हूँ, स्वयम्प्रकाश हूँ तथा सर्वप्रकाशक हूँ। मैं अविक्रिय हूँ, ईदृश और तादृश के परिच्छेद से वर्जित हूँ तथा समाधिदशा में सनातन बोधमय देव के रूप में भासमान होता हूँ।। २५८।।

अभुक्तो विषयः कोस्ति यमिच्छाम्यप्यहं पुनः।
पौनःपुन्येन भोगस्तु स्वयमेव प्रवर्त्तते।। २५९।।

ऐसा कौन सा विषय है जिसका भोग विचित्र अनन्त देहों से युक्त मैंने नहीं किया हो। अतएव किसी भी विषय की भोगकामना मेरे अन्दर नहीं हो सकती। भोग तो एक के बाद दूसरा पुनः-पुनः स्वयम् ही मेरे पास उपस्थित होता है।। २५९।।

अनिच्छन्निवसन्नस्मि यथा देहे तथैव तु।
पथोपगतमासेवे विषयं च पुनः पुनः।। २६०।।

जैसे मैं वर्त्तमान देह में रहने की इच्छा नहीं रखता हुआ भी विराजमान रहता हूँ; वैसे ही मेरे जीवन के मार्ग में स्वयमेव आगत विषय का निष्कामभाव से सेवन करता हूँ।। २६०।।

देवं सर्वदमात्मानं व्यापकं जगदीश्वरम्।
हित्वा कं यामि शरणं शरण्योऽन्यो न कश्चन।। २६१।।

स्वात्मदेव सर्वप्रद है, व्यापक है, जगदीश्वर है, उसे छोड़कर मैं किसकी शरण गहूँ? आत्मा से अतिरिक्त कौन है जिसे शरण माना जा सके?।। २६१।।

देहोऽस्म्यहं नैव न चास्मि बुद्धिः
प्राणो न नो तत्क्षयभूमिशून्यः।
जानामि पश्यामि पृथक्तया तान्
कर्त्तास्मि भोक्तास्मि विलोपकोस्मि।। २६२।।

मैं देह नहीं, बुद्धि नहीं, प्राण नहीं और शून्य भी नहीं हूँ। मैं इनको जानता हूँ, देखता हूँ, ये मुझसे पृथक् हैं। मैं इनका कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ तथा इनके अदर्शन का भी द्रष्टा हूँ।। २६२।।

अहमेको निरालम्बो भावाभावविलक्षणः।
अचिन्त्योस्मि सदासिद्धो भामि नेदन्तया पुनः।। २६३।।

मैं एक हूँ, निरालम्ब हूँ, भाव तथा अभाव से विलक्षण हूँ, अचिन्त्य हूँ, सदासिद्ध हूँ और कभी भी इदन्तारूप से भासित नहीं होता।। २६३।।

पौनःपुन्येन भात्येतज्जगच्चित्रं मयि स्थितम्।

शिवादिधरणीप्रान्तं निजशक्तिविभासितम्॥ २६४॥

शिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त समस्त विचित्र जगत् अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति से विभासित है, मुझ में ही स्थित है तथा पनुः-पुनः भासित होती रहती है॥ २६४॥

इदन्तास्पदमेवैतद् भासमानं विनश्वरम्।

देहादिब्रह्मपर्यन्तं बहिरन्तः स्थितं किल[१३]॥ २६५॥

देह से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त भासमान सभी वेद्य, बाह्य हो अथवा आभ्यन्तर विनश्वर (नाशवान्) हैं क्योंकि इदन्ता की श्रेणी में आते हैं॥ २६५॥

देहं देहगतां शक्तिं शुद्धस्पन्दमयीमपि।

पश्यन् देहात्मतामाप्तो द्रष्टा नैति शिवात्मताम्॥ २६६॥

देह को तथा देह में विद्यमान शक्ति, जो वास्तविक रूप से शुद्धस्पन्दमयी है; को देखता हुआ मूढ़ व्यक्ति देहात्मवादी हो जाता है। वह शिवात्मभाव से वञ्चित हो जाता है॥ २६६॥

विशुद्धज्ञातृतापन्नो निःशङ्को दृढनिश्चयः।

सद्यश्चिन्मातृतापन्नः शिवात्मा सर्वकृद् भवेत्[१४]॥ २६७॥

अपने शुद्धज्ञातृभाव में प्रतिष्ठित होता हुआ शिवयोगी,

---

१३. प्रकाशमानोऽस्म्यहमद्वितीयो विभासमानैर्नहि मेस्ति भेदः।
देहाद्यसंख्यैर्मदभिन्नरूपैर्मच्छक्तिवाक्स्पन्द–विभासितैश्च॥
सर्वस्माद् भासमानाद्धि भासमानोऽस्म्यहं पुरा।
भास्यं विभासयन् सर्वमनाभास्यो विभुः स्वराट्॥

१४. अनाकृतिरहं नित्यो भावाभावावभासकः। भास्यतां नैमि, भास्यत्वमागतास्तु जडा मयि॥

दृढ़निश्चय के द्वारा, तत्क्षण चिन्मय प्रमाता बनकर शिवता को प्राप्त होता है और सर्वकर्त्तृत्वसम्पन्न हो जाता है।। २६७।।

स्वस्मिन्नभास्यतां बुध्वा नित्यं तिष्ठ सदात्मनि।
आत्मास्ति सर्वभास्यानां भासको निर्मलो विभुः।। २६८।।

हे अन्तेवासिन्! अपने स्वरूप को किसी अन्य से प्रकाश्य नहीं समझकर उसमें प्रतिष्ठित रहना चाहिये। आत्मा तो समस्त भास्य जगत् का भासक है, निर्मल है और प्रभु है।। २६८।।

इच्छैवास्त्यात्मनः शक्तिस्तया सिध्यन्ति सिद्धयः।
सर्वा एतस्य सर्वत्र स्वात्माभिज्ञस्य योगिनः।। २६९।।

निजरूप की प्रत्यभिज्ञा से चमत्कृत शिवयोगी को सर्वत्र, सभी सिद्धियाँ अपनी इच्छा से ही सिद्ध होती हैं। यह इच्छा आत्मा की अपनी शक्ति है।। २६९।।

निष्क्रियो यत्नरहितः स्थितः स्वस्मिन्ननुन्मुखः।
अनिमीलितनेत्रोऽहं पूर्णो भामि स्वतः स्वयम्।। २७०।।

यत्नवर्जित मैं निष्क्रिय हूँ, उन्मुख हुए बिना ही अपने स्वरूप में स्थित हूँ। मैं आँख मूंदे विना ही स्वयम् परिपूर्णतया भासमान हूँ।। २७०।।

कायिकं मानसं कर्म हित्वा वाञ्छां स्थितेरपि।
स्वयम्प्रकाशमानोस्मि देहं प्राणं स्पृशामि न।। २७१।।

कायिक एवम् मानस कर्म तथा स्थिति की अभिलाषा का परित्याग कर मैं स्वयम् प्रकाशमान हूँ तथा देह और प्राण के स्पर्श से वर्जित हूँ।। २७१।।

स्वानन्दरसकल्लोलैरविश्रान्तैः प्रतिक्षणम्।
उद्वेल्लितोस्मि सानन्दश्चिद्घनो गगनोपमः।। २७२।।

उछलते हुए स्वानन्द-रसतरङ्गों से प्रतिक्षण उपोद्बलित (सरावोर) होता हुआ मैं आनन्दमय हूँ और गगन की तरह अत्यन्त व्यापक हूँ।। २७२।।

अहमात्मनि यस्तिष्ठेत् स्वस्वरूपे निजात्मनि।
तस्य भेदावभासो हि न स्यात् क्वापि कदाचन।। २७३।।

जो व्यक्ति स्वात्ममहेश्वरस्वरूप में अवस्थित रहता है उसे किसी स्थान और किसी क्षण में भेद-भान बाधित नहीं करता।। २७३।।

दुःखं भेदावभासोस्ति सुखं स्वात्मावभासनम्।
स्वात्मावभासतृप्तस्य भेदभानं सुखप्रदम्।। २७४।।

भेदभान (द्वैतदृष्टि) दुःख का मूल कारण है तथा स्वात्मभान सुख का कारण है। जो शिवयोगी स्वात्मभान से तृप्त रहता है उसके लिये भेदभान भी सुखप्रद ही होता है।। २७४।।

यस्त्वं स्थितोसि हृदये निखिलस्य जन्तो-
रेकः प्रियः परममङ्गलभूरलक्ष्यः।
सोऽहन्तया प्रकटितः सततं विभो मे
भायाः प्रपञ्चनिचयात्मतया प्रतीतः।। २७५।।

हे प्रभो! जो तू समस्त प्राणी के हृदय में अकेले स्थित हो, प्रिय हो, परम मङ्गलधाम हो, अलक्ष्य हो, वही तू मेरे अन्दर "अहम्"– रूप से परिभासित हो। समस्त प्रपञ्च में भी मुझे सदा तेरा ही दर्शन हुआ करे।। २७५।।

स्वयं स्वतन्त्रा सततं स्फुरन्ती
प्रकाशयन्ती मम रूपमाद्यम्।

आनन्दपूर्णा जनिमृत्युहीना
सेव्यास्ति शक्तिर्मदभिन्नरूपा॥ २७६॥

मेरी स्वातन्त्र्य-शक्ति, मुझसे अभिन्न है, स्वतन्त्र है, सतत स्फुरणशील है तथा मेरे शाश्वत स्वरूप का प्रकाशन करती है। यह आनन्दभरित है, जन्म-मृत्यु से वर्जित है, अतएव सदा सेवनीय है॥ २७६॥

निरास्पदपदां देवीं निजानन्दस्वरूपिणीम्।
स्पन्दमानामगाधां तां वन्दे संवित्स्वरूपिणीम्॥ २७७॥

संविद् भगवती, स्वयम् अनाधार तथा सम्पूर्ण जगत् का आधार है, स्पन्दनशील है तथा आनन्दरूप है। मैं उनकी वन्दना करता हूँ॥ २७७॥

परां जीवकलां वन्दे चैतन्यामृतवर्षिणीम्।
अमितां मितमातॄणां जन्ममृत्युभयापहाम्॥ २७८॥

संविद् परा शक्ति है, जीवकला है, चैतन्यरूप अमृत की वर्षा करने वाली है तथा अमित है। प्रत्यभिज्ञात हो जाने पर यह मितप्रमाता के जन्म-मृत्यु-भय को दूर करने वाली है॥ २७८॥

शून्यप्रमातृतापन्नः क्रमाद् देहप्रमातृताम्।
प्राप्य प्राप्नोति मूढ़त्वं पशुत्वं जन्ममृत्युदम्॥ २७९॥

शिव प्रथमतः शून्यप्रमाता, प्राणप्रमाता, बुद्धिप्रमाता और देहप्रमातारूप में आबद्ध होकर मूढ़भाव एवम् जीवभाव में परिणत हो जाता है। अतएव वह जन्म और मृत्यु की परम्परा से घिर जाता है॥ २७९॥

यो धीरो गुरुतो ज्ञात्वा स्वात्मानं शिवमद्वयम्।
मितप्रमातृतां हित्वा स्वं रूपमधितिष्ठति॥ २८०॥

स शिवोऽस्त्यत्र भूलोके पञ्चकृत्यपरायणः।
सर्वात्मा सर्वकृच्चापि स्पृहावानपि निःस्पृहः॥ २८१॥

जो धीर साधक गुरुमुख से शिवमय अद्वय स्वात्मा को जान लेता है, तथा मितप्रमातृता (सीमित प्रमातृपना) का परित्याग कर निज स्वरूप में अवस्थित हो जाता है– वह सृष्टि-स्थिति-ध्वंस निग्रह-अनुग्रह रूप पञ्चकृत्य का सम्पादन करता हुआ इस भूलोक में शिव ही है। वह सर्वात्मा है, सर्वकृत् है तथा स्पृहयालु होकर भी निःस्पृह है॥ २८०-८१॥

पञ्चकृत्यरतश्चापि　　नित्यानुग्रहरूपवान्।
नरात्मा दृश्यमानोपि चिदानन्दस्वरूपवान्॥ २८२॥

स्वरूप-ज्ञान से कृतार्थ साधक पञ्चकृत्य का सम्पादक होकर भी अनुग्रहमूर्त्ति होता है। वह सामान्य जन की भाँति दिखने पर भी चिदानन्दमय शिवस्वरूप है॥ २८२॥

अनाद्यन्तविभोर्भानं न भानक्रियया भवेत्।
तस्मादेव विभोः किन्तु भाति भानक्रिया त्वियम्॥ २८३॥

जन्म-मृत्यु-हीन प्रभु का भान, भानक्रियासाध्य नहीं है प्रत्युत प्रभु से ही भानक्रिया भी परिभासित होती है॥ २८३॥

इदन्तापन्नरूपस्य　　परिच्छितिमुपेयुषः।
भानक्रिया परिच्छिन्ना न विच्छिन्ना ममास्ति सा॥ २८४॥

जो इदन्तारूप से प्रकाशित होने वाली परिच्छिन्न वस्तु है उसकी भानक्रिया विच्छिन्न होगी, स्वात्मा की नहीं॥ २८४॥

अहमो भानमेवास्ति सत एव न चासतः।
तत एव न तत्रास्ति परिच्छेदस्तु कश्चन॥ २८५॥

सदा विद्यमान अहमर्थ का भान परिच्छेदवर्जित होता है। क्योंकि वह क्षणमात्र के लिये भी असत् नहीं होता। अतः स्वात्मा का परिच्छेदन कभी भी सम्भव नहीं है॥ २८५॥

आरम्भश्च समाप्तिश्च क्रियायास्तत्र जायते।
यत्राभिव्यापनं भूयात् पाकादौ मितवस्तुनः॥ २८६॥

यथा पाचक चावल से भात बनाता है यहाँ चावल का भात बनना तभी सम्भव है जब चावल एक परिच्छिन्न वस्तु है और उसमें पकने की क्रिया का आरम्भ और समाप्ति दृष्टिगोचर होती है॥ २८६॥

चलत्यहंस्वरूपात्तु माया विद्यात्मकं पुनः।
विद्यया स्वस्य भानं स्यादविद्ययेदमः सदा॥ २८७॥

अहमर्थ स्वरूप से माया और विद्या दो शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं। विद्या से स्वरूप का भान होता है और अविद्या से इदन्तापन्न वेद्यवस्तु (इदम्) का॥ २८७॥

नाहं करोमि देहेऽहं मृत्युर्मत्तो बिभेति हि।
कृतकृत्योस्मि पूर्णोस्मि प्राप्यं भाति न किञ्चन॥ २८८॥

मैं देह में कभी भी अहम्-बुद्धि नहीं करता। अतएव मुझसे मृत्यु डरती है। मैं कृतकृत्य हूँ, परिपूर्ण हूँ। अब मुझे कुछ भी प्राप्तव्य (प्राप्त करना) शेष नहीं है॥ २८८॥

ज्ञेयं ज्ञातमशेषेण भोगो भुक्तः पुनः पुनः।
शिष्यते किं यदर्थं मे भवेदिच्छापि काचन॥ २८९॥

मैंने अशेष ज्ञातव्य एवम् भोक्तव्य वस्तुओं का पुनः-पुनः ज्ञान एवम् भोग कर लिया है। अब कौन सी वस्तु अवशिष्ट है, जिसकी प्राप्ति के लिये कोई भी इच्छा जागृत होगी?॥ २८९॥

एकत्राङ्गे यथा स्थित्वा परत्र व्याप्रिये त्वहम्।
तथा व्याप्रियमाणोस्मि स्वस्थो मायिकदैहिके[१५]।। २९०।।

जैसे शरीर के एक भाग में निश्चल रूप से स्थिर रहकर अन्य अंग में मैं क्रियाशील होता हूँ वैसे ही स्वस्वरूप में स्थित रहता हुआ मैं मायिक और दैहिक कार्य में व्यापारित होता रहता हूँ।। २९०।।

नित्यस्य सकलं नित्यं विभात्यस्ति भवत्यपि।
नित्योस्मि नित्यमेवास्ति भासमानं यदस्ति मे।। २९१।।

नित्य वस्तु का स्वभाव निम्नांकित होता है– नित्य होना, भासित होना, उस रूप में स्थित होना और नित्य रहना। मैं नित्य हूँ, मेरी भासमानता एवम् अस्तिता भी नित्य है।। २९१।।

विभुं स्तौमि स्वमात्मानं नित्यं सर्वमयं स्थितम्।
अलक्ष्यमेव मे लक्ष्यं नित्यमेव विराजते।। २९२।।

स्वात्ममहेश्वर विभु है, नित्य है, सर्वमय है और सर्वदा स्थित है। अत: मैं स्वयम् को भजता हूँ। मेरा लक्ष्य अलक्ष्य है, क्योंकि वह नित्य ही विराजमान अपना स्वरूप है।। २९२।।

समावेशो न कर्तव्य: शिवे स्वात्ममहेश्वरे।
क: कुत्र प्रविशेद् यस्मात् स्वात्मैवास्ति शिव: स्वयम्।। २९३।।

स्वात्ममहेश्वर कल्याणमय है। अत: उसमें समावेश की कोई आवश्यकता नहीं है। यतश्च स्वयम् स्वात्मा ही शिव है अत: अन्य के अभाव होने से प्रवेष्टा और प्रवेष्टव्य की स्थिति नहीं बन सकती।। २९३।।

---

१५. कार्ये इति भाव:।

स्वानन्दसिन्धुसहजोल्लसितैस्तरङ्गैः
स्वस्मिन् पतद्भिरवहेलितदुःखमूलः।
पीयूषनिर्भरवपुः परिपूर्णचन्द्रो
योगी जगत् सुखयति स्मितचन्द्रिकाभिः।। २९४।।

शिवयोगी निजानन्दसागर के स्वाभाविक उल्लासमय तरंगों से अपने स्वरूप में ही सराबोर रहता है। अतएव सम्पूर्ण दुःखों के मूलकारण मायिक एवम् आणव मल को निरस्त कर देता है। वह सुधा-रस से परिपूर्ण होकर पौर्णमासी के चन्द्र की भाँति स्वयम् में आनन्दित रहकर अपनी स्मितपूर्ण चन्द्रिकाओं से सम्पूर्ण जगत् को सुखित करता है।। २९४।।

स्वात्मा नह्यस्ति देहोऽयं
स्वात्मा नित्य : शिवः स्वयम्।
स्वात्मा शिवः शिवो ह्यात्मा
देहस्पर्शविवर्जितः ।।२९५।।

स्वात्मा देह नहीं है। वह तो नित्य है और स्वयम् शिव ही है। स्वात्मा ही शिव है और शिव ही स्वात्मा है क्योंकि देहभाव के स्पर्श से वर्जित है।। २९५।।

देहसम्बन्धतः सर्वे भान्ति प्राणेन्द्रियक्रियाः।
स्वात्मा द्रष्टास्ति विज्ञाता शिव एकश्चिदात्मकः।। २९६।।

स्वात्मा का देह के साथ सम्बन्ध होने से प्राण एवम् इन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ भासित होती हैं और इनका भासक स्वात्मा द्रष्टा है, विज्ञाता है, एक है, चिन्मय शिव है।। २९६।।

देहोऽयं कालगोऽनित्यो भाति निग्रहहेतुकः।
सदानुग्रहरूपस्य कथं भायाच्छिवात्मनः।। २९७।।

यह देह, काल में रहता है, अनित्य है और निग्रहरूप है। अतः अनुग्रहमय शिवात्मा के रूप में इसका भान स्वीकार्य नहीं हो सकता।। २९७।।

परिष्वजेऽहं न कदापि देहं
न तत्क्रियां क्वापि कदापि मन्ये।
शिवःस्वतन्त्रोऽहमनीदृशोऽह-
मव्यक्तरूपोस्मि सदैकरूपः।। २९८।।

मैं देह को स्वात्मरूप से आलिङ्गित नहीं करता तथा किसी समय किसी भी जगह देह की क्रिया को अपनी क्रिया नहीं मानता। मैं शिव हूँ, स्वतन्त्र हूँ, ईदृश-तादृश (परिच्छेदन) से परे हूँ, अव्यक्त हूँ तथा सदा एकरस हूँ।। २९८।।

बहिष्करणबुद्ध्यहंकृतिमनःसुषुम्नाश्रयाच्
चतुर्दशसु चण्डिके! पथिषु येन येन व्रजेत्।
कला शिवनिकेतनं जननि तत्र तत्र स्म ते
दशोदयति दुर्लभा जगति या सुरैरप्यहो।। २९९।।

हे चण्डिके मातः! दस बाह्येन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार, मन और सुषुम्ना के आश्रयण से चौदह मार्गों में शिवमय कला की दशा उदित होती है। आपकी कृपा से "सुषुम्ना मार्ग" प्रशस्त होता है। तदनन्तर सुषुम्ना के साथ उपर्युक्त चौदह मार्ग शिवयोगी को चमत्कृत करते हैं। यह देवताओं के लिये भी दुर्लभ है। इसके विपरीत सामान्यजन की सुषुम्ना अज्ञात होती है। अतः उन्हें उपर्युक्त तेरह मार्ग सदा बन्धन में डालने वाले होते हैं। २९९।।

अव्यक्तरूपोस्मि विभासमानो
नीरूप एवास्म्यखिलं तु पश्यन्।
अन्तर्विचित्रोर्मिकृतैश्च रूपै-
र्बहिर्विभातैर्न विमोहमेमि।। ३००।।

मैं अव्यक्तस्वरूप हूँ, सदा भासमान हूँ, रूपवर्जित हूँ, सकल जगत् का द्रष्टा हूँ। अनेक प्रकार के आन्तर स्व-ऊर्मियों से बाह्यजगत् के समस्त रूप मुझसे ही प्रकाशित हो रहे हैं। अत: मैं उनसे मोहित नहीं होता।। ३००।।

न मे दु:खं सुखं वापि भानमात्रमिदं सदा।
देहसम्बन्धतोऽसत्यं चित्रं भाति जगन्मयम्।। ३०१।।

न मुझे दु:ख प्रभावित करता है और न सुख। क्योंकि ये दोनों मेरे भान से अतिरिक्त नहीं हैं। देह के साथ सम्बन्ध होने से ही शरीरादि समस्त जगत्, विविधरूप में भासित होता है।। ३०१।।

यत्पश्यामि च जानामि वाऽनुभवाम्यहं हि यत्।
तन्निखिलं मदन्तस्थमस्त्यस्मि व्यापक: शिव:।। ३०२।।

मैं जो कुछ देखता हूँ, जानता हूँ, अथवा अनुभव करता हूँ, वह समस्त, दृश्य है और मेरे अन्दर ही स्थित है। अत: मैं व्यापक द्रष्टा चिन्मय शिव हूँ, उनसे अन्य नहीं हूँ।। ३०२।।

भासमानं परिच्छिन्नं सर्वमन्तर्गतं मम।
अहमस्म्यपरिच्छिन्नो भासमान: स्वयं स्वराट्।। ३०३।।

जो भी परिच्छिन्नरूप में भासित होता है वह सब मेरे अन्तर्गत है, दृश्य है। मैं अपरिच्छिन्न हूँ, सदा भासमान हूँ तथा द्रष्टा होने से स्वराट् हूँ।। ३०३।।

विभामि, विषयो नाहं भवाम्यन्यस्य कस्यचित्।
ज्ञानस्य, ज्ञातृरूपोस्मि ज्ञानाज्ञानावभासक:।। ३०४।।

मैं स्वत: भासमान हूँ, मैं किसी भी अन्य ज्ञान का विषय नही हूँ, दृश्य नहीं हूँ। मैं तो ज्ञाता (द्रष्टा) हूँ, ज्ञान एवम् अज्ञान का अवभासक हूँ।। ३०४।।

यस्मिन्नेवास्ति लोको निजनिजगरिमज्ञानसंजातगर्व:
क्षुद्रैश्वर्यप्रलुब्धो विषयसुखरतो भौतिकज्ञानतुष्ट:।
हन्त! श्रद्धाविहीन: श्रुतिपथरहित: शास्त्रविज्ञानशून्यो
धिङ्मां तत्रैव काले सकलसुखमयीं कामये विश्वशान्तिम्।। ३०५।।

ध्यातव्य-शिमला पर्वत पर किसी पण्डित के द्वारा श्रद्धया "कामये विश्वशान्तिम्" (विश्वशान्ति की कामना करता हूँ) की समस्यापूर्ति हेतु प्रार्थित गुरुदेव द्वारा भौतिक मानवों की दृष्टि से प्रथम पूर्ति एवम् आध्यात्मिक जन की दृष्टि से द्वितीय सम्पूर्ति की गयी है।

यह खेद की बात है कि– जिस कालखण्ड में सारे लोग अपनी क्षुद्र गरिमा का बखानकर गर्व का अनुभव करते हों, क्षुद्र ऐश्वर्य के लिये ही लालायित रहते हों, विषय सुखभोग में लिप्त हों, भौतिक-ज्ञान से ही सन्तुष्ट हों, श्रद्धा-विहीन हों, वेद-मार्ग से परिभ्रष्ट हों तथा शास्त्रज्ञान से वर्जित हों, उस काल-खण्ड में सकल-सुखमयी विश्वशान्ति की कामना करने वाले मुझको धिक्कार है।। ३०५।।

संलग्ना: सन्ति सन्तो बहुतरसमयाच्छान्तिसंसाधनायां
राजानोऽपीश्वरांशा जनगणमनसां दोषविध्वंसनायाम्।
दोषाल्लोकोपि नित्यं विरत इव शनै: काङ्क्षते धर्ममार्गं
दृष्ट्वेत्थं सर्वकाम्यामहमपि सुलभां कामये विश्वशान्तिम्।। ३०६।।

साधुजन चिरकाल से शान्तिस्थापना हेतु संलग्न हैं, ईश्वर-अंशभूत नृपगण भी जनता के मनोदोष को दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं, एवम् सामान्य जन भी दोषों से विरत रह कर धीरे-धीरे धर्ममार्ग की ओर उन्मुख हो रहे हैं। इस तरह सर्वाभिलषित होने से सुलभ विश्वशान्ति की कामना मैं भी करता हूँ।। ३०६ ।।

प्रकाशमानोऽस्म्यहमेव पूर्वं
ततोस्मि जानन्नपि किञ्चिदन्यत्।
स्मरंश्च कुर्वन्नपि यामि दुःखं
प्राप्ताभिलाषः किल विस्मरन् स्वम्।। ३०७।।

प्रकाशस्वभाव मैं पूर्वतः विराजमान रहता हूँ। तदनन्तर मैं अन्य जगत् को जानता हूँ स्मरण करता हूँ, व्यवहार में लाता हूँ और क्षुद्र अभिलाष की पूर्त्ति से स्वयम् को भूलकर दुःखजाल में घिर जाता हूँ।। ३०७।।

स्वस्मिन् स्थितः सर्वमिदं प्रकुर्वन्
स्वाभिज्ञया चेन्मितताविहीनः।
नाप्नोमि दुःखं न सुखं न दैन्यं
स्वच्छोऽभिलष्यन्नपि चास्मि पूर्णः।। ३०८।।

स्वरूप की पहचान हो जाने से मैं मितप्रमातृता का परित्याग कर पूर्णाहन्ता में प्रतिष्ठित हो गया हूँ। अतः सभी व्यवहार को करता हुआ भी मैं सुख-दुःख-मोह से उत्तीर्ण हूँ, स्वच्छ हूँ तथा अभिलाषी बनकर भी परिपूर्ण हूँ।। ३०८।।

प्राप्यो नास्मि न बोद्धव्यो न स्मर्तव्यो न विस्मृतः।
प्रापको दर्शकः स्मर्त्ता नित्यः सद्योस्म्यहं विभुः।। ३०९।।

मेरा स्वरूप नये ढंग से प्राप्य नहीं है, जानने योग्य एवम् स्मरण करने योग्य नहीं है, विस्मृत नहीं है। प्रत्युत समस्त दृश्य का प्रापक, दर्शक, स्मर्त्ता, सनातन एवम् व्यापक मैं ही हूँ।। ३०९।।

अनिर्देश्याद् यस्माच्चलति पवनः प्राणयति यस्-
तथैवाहंशब्दो नदति सकलप्राणिषु पुनः।
इदं सर्वं दृश्यं भवति पुनराभाति सततं
तमात्मानं वन्दे जननमरणक्लेशरहितम्।। ३१०।।

आत्मा अनिर्देश्य है, उससे पवन संचरण करता है, वही देह में प्राण-शक्ति को धारण करता है, समस्त प्राणियों में अहम्-शब्द का नाद भी उसी से होता है। सम्पूर्ण दृश्य उसी आत्मा से पुनः पुनः सतत आभासित होता है। वह वास्तविक रूप से जन्म-मृत्यु एवम् पञ्चविध क्लेश से अस्पृष्ट है। अतः मैं स्वात्ममहेश्वर की ही वन्दना करता हूँ।। ३१०।।

अन्तर्बहिश्चाप्यहमेव चैको
दृश्योऽप्यदृश्यो लघुदीर्घरूपः।
कुर्वन्नकुर्वन्नपि सुस्थिरोहं
जीवन्मृतो भामि शिवोऽद्वितीयः।। ३११।।

एक ही मैं अन्दर और बाहर भी विराजता हूँ। किसी क्रिया को करूँ अथवा न करूँ, सुस्थिर रहता हूँ, जीवित रहकर भी मृत रहता हूँ। पर्यन्ततः अद्वितीय शिवस्वरूप मैं सर्वरूप से भासित होता हूँ।। ३११।।

आभास्यमानं सकलं ह्यसत्यम्
आभासमानादहमस्मि पूर्वम्।
सत्यः स्थिरः सर्वविभासकश्च
भास्यत्वधर्मो नहि मेस्ति धर्मः।। ३१२।।

प्रकाशित होने वाला दृश्य कहलाता है और वह असत्य होता है। उन दृश्यों का प्रकाशक मैं हूँ, अत: उनसे पूर्वसिद्ध हूँ, सत्य हूँ, स्थिर हूँ तथा समस्त वेद्यों का प्रकाशक हूँ। सर्वप्रकाशक स्वात्ममहेश्वर में भास्यत्वधर्म का अङ्गीकार नहीं किया जा सकता।। ३१२।।

देहे त्वनित्ये क्षणभङ्गुरेऽस्मिन्
देहात्मभावेन वसन्ति मूर्खा:।
शिवात्मभावेन वसंस्तु विज्ञस्
तत्रेक्षते देहमिमं तु धीर:।। ३१३।।

देह अनित्य है, क्षणभङ्गुर है, इसको आत्मा समझकर व्यवहार में संलग्न लोगों को आगम "मूर्ख" शब्द से पुकारता है। इसके विपरीत शिवात्मा, देह से व्यवहार करता हुआ भी विज्ञ कहलाता है। वह अत्यन्त धीरता के साथ देह को दृश्य एवम् स्वयम् को द्रष्टा समझता है।। ३१३।।

एकाक्यप्यस्म्यनेकात्मा सत्योऽसत्यावभासनात्।
सत्यासत्यौ परित्यज्य भामि स्वात्मतया स्वयम्।। ३१४।।

मैं एकाकी (सहायक-निरपेक्ष) होकर भी नाना रूपों में भासमान होता हूँ। सत्य होकर भी असत्य (अस्थिर) वेद्य का भासन करता हूँ। अन्योन्यसापेक्ष सत्य-असत्य का भी त्याग कर देने से मैं स्वात्मरूप में ही भासमान होता हूँ।। ३१४।।

अव्यक्तात्स्वस्वरूपाद्धि व्यक्तं पश्यन् विनिर्गतम्।
देहादिनिखिलं विश्वं न मुह्यामि बिभेमि न।। ३१५।।

शिवयोगी स्पष्टरूप से यह अनुभव करता है कि स्वरूप अव्यक्त है, देह से लेकर समस्त विश्व उस अव्यक्त से ही प्रादुर्भूत एवम्

प्रकाशित है। अतः वह न मोहित होता है और न भयभीत होता है।। ३१५।।

शिवस्त्वमात्मन् भव भेदमुक्तो
गवेषयन् कं भ्रमसीव नित्यम्।
असि त्वमेकः परिपूर्णरूपो
देहे विभाते, त्वयि भाति विश्वम्।। ३१६।।

हे आत्मन्! तू शिव हो अतएव भेदमुक्त हो जाओ। सदा किस वस्तु की खोज करने हेतु भटक रहे हो। तू एक हो, परिपूर्णस्वरूप हो, देह-भान होने पर ही भेदमय समस्त विश्व तुझे मोहित अथवा भयभीत करता है।। ३१६।।

विदेहरूपे स्थिरतामुपेते
विभौ विभाते त्वयि नास्ति देहः।
भाते तु देहे परिभाति दैन्यं
बन्धोपि मोक्षोपि विकल्पनेन।। ३१७।।

अये प्राज्ञ! विदेहरूपता (देह में सीमित नहीं रहना) की प्रतीति जब दृढ़ हो जाय तब तेरी विभुता (प्रभुता) देदीप्यमान हो उठेगी फलस्वरूप देह की प्रधानता नहीं रहेगी। जब तक देह की प्रधानता बनी रहती है तब तक दैन्य बना रहता है और बन्धन-मोक्ष आदि की विकल्पनायें मानव को झकझोरती रहती हैं।। ३१७।।

न शुद्धिमायाति कदापि देहो
नाशुद्धिमायाति कदाचनात्मा।
विमृश्य चैवं परिहाय यत्नं
देहे, विदेहो भव विश्वमूर्त्तिः।। ३१८।।

हजारों प्रयत्न से भी देह में शुद्धि नहीं लायी जा सकती और उसी प्रकार आत्मा में अशुद्धि का आधान नहीं किया जा सकता। इस प्रकार विचारकर और देह में यत्न को छोड़कर विश्वमूर्ति विदेह बनो।। ३१८।।

क्रमभावमनादृत्य महाविदेहभावनात्।
देहं देहस्थचक्रं च सिञ्चन् योगी जयेज्जगत्।। ३१९।।

क्रमात्मक जगत् का आदर किये बिना महाविदेह-भाव को धारण कर देह और देहस्थ चक्र को संविद्-रस से आप्लावित करता हुआ शिवयोगी जगत् को स्वात्मवश कर लेता है।। ३१९।।

आत्मानं सततं वन्दे सर्वरूपमरूपकम्।
विश्वाधारं निराधारं नित्यसिद्धं महेश्वरम्।। ३२०।।

मैं सदा स्वात्ममहेश्वर की वन्दना करता हूँ, सर्वरूप हूँ, अरूप हूँ, सम्पूर्ण जगत् का आधार हूँ। देश, काल एवम् अन्य कुछ भी मेरा आधार नहीं है। मैं नित्य-सिद्ध महेश्वर हूँ।। ३२०।।

नोर्ध्वस्थोस्मि नचाधःस्थो व्यापकोहं न मध्यमः।
सर्वरूपोऽप्यरूपोहं भामात्रः स्पन्दसंयुतः।। ३२१।।

मैं व्यापक हूँ। अतः केवल ऊर्ध्ववर्ती नहीं, केवल अधोवर्ती नहीं, केवल मध्यवर्ती भी नहीं हूँ। मैं सर्वरूप होने से परिच्छिन्नरूपवर्जित हूँ तथा विमर्शमय प्रकाशशील हूँ।। ३२१।।

अनाकाङ्क्षः स्वरूपस्थः साकाङ्क्षो जगदात्मकः।
उन्मुखो विषयज्ञाता स्वप्रकाशोस्त्यनुन्मुखः।। ३२२।।

मैं निराकाङ्क्ष रहकर स्वरूप में स्थित होता हूँ पर, साकाङ्क्ष होने पर जगदात्मा हो जाता हूँ। बहिर्मुखता की स्थिति में विषयों का ज्ञाता

होकर भी अन्तर्मुखता की स्थिति में स्वप्रकाश शिव-भाव में भी मैं ही विलसित होता हूँ।। ३२२।।

उभे एव समुद्रस्य स्वरूपं सर्वदा यथा।
तथैव स्तो ममापीमे सोर्मिताशान्तते किल।। ३२३।।

जिस प्रकार सागर के दो स्वरूप होते हैं– सोर्मिता (तरङ्गशीलता) तथा शान्तता (गम्भीरता)। उसी तरह स्वात्म-महेश्वर के भी दो रूप सदा विराजमान रहते हैं– सोर्मिता एवम् शान्तता।। ३२३।।

वस्तुतो, वेद्यताक्रान्तं वस्तु सत्यं न किञ्चन।
सत्यो ह्यात्माऽप्रमेयोऽयं भाम्यहं स्वीयशक्तितः।। ३२४।।

पारमार्थिक रूप से विचार करें तो यह परिलक्षित होता है कि जो कुछ वेद्य है वह सत्य नहीं हो सकता। स्वात्ममहेश्वर वेद्य (प्रमेय) नहीं है अतः सत्य है और स्वातन्त्र्यशक्ति से प्रकाशमान है।। ३२४।।

हठतो ज्ञेयताक्रान्तं सर्वं हित्वा प्रयत्नतः।
अहंविमर्शतो ग्राह्यः स्वात्मा सर्वस्थितौ त्वया।। ३२५।।

जो भी ज्ञेय अर्थात् वेद्य विषय है उसे प्रयास एवम् हठ द्वारा परित्याग कर देना चाहिये और प्रत्येक स्थिति में साधक को अहम्-विमर्श से विलसित स्वात्मप्रकाश का गरिमामय अनुभव करना चाहिये।। ३२५।।

ज्ञानसिंहासनासीनो देहराज्यप्रशासकः।
धीमन्त्री प्राणचारोहं राजा भामि महेश्वरः।। ३२६।।

स्वात्ममहेश्वर सम्राट् है। वह ज्ञानसिंहासन पर आरूढ़ रहता है,

देहराज्य पर प्रशासन करता है बुद्धि की मन्त्रणा को स्वीकारता है और प्राण ही इसके चार अर्थात् दूत होते हैं।। ३२६।।

पूर्णोस्मि सर्वथा पूर्णो विश्रान्तोस्मि निजात्मनि।
इच्छाज्ञानक्रियाशक्त्या क्रियाज्ञानेच्छयापि च।। ३२७।।

मैं पूर्ण हूँ, स्वरूप में विश्रान्त होने से परिपूर्ण हूँ। इच्छा, ज्ञान एवम् क्रिया-शक्ति मेरी उन्मेषावस्था में सहयोगी का काम करती हैं तथा निमेषावस्था में क्रिया, ज्ञान एवम् इच्छाशक्ति।। ३२७।।

प्रकाशमानोऽस्म्यहमद्वितीयो
विभासमानैर्नहि मेस्ति भेदः।
देहाद्यशेषैर्मदभिन्नरूपै-
र्मच्छक्तिवाक्स्पन्दविभासितैस्तु।। ३२८।।

मैं सदा प्रकाशमान हूँ, द्वैतवर्जित हूँ। मेरी शक्ति सूक्ष्म वाक् एवम् स्पन्द नामोंवाली है। उससे उद्भूत एवम् प्रकाशित देहादि वेद्य, मुझसे भिन्न नहीं हो सकते।। ३२८।।

पूर्णः स एकोस्ति महेश्वरो मे
योऽगाधरूपो न विभात्यरूपः।
रामेश्वरः शब्दनशब्दरूपोऽ
हंमात्रवाच्योऽस्म्यविकल्परूपः।। ३२९।।

मेरे भगवान् महेश्वर पूर्ण हैं, एक हैं। उनके स्वरूप की इयत्ता (सीमा निर्धारण) नहीं होने से वह अगाधस्वरूप हैं। अतएव उन्हें अरूप भी कहा जाता है। वह साधारणजन को परिभासित नहीं होते हैं। मैं रामेश्वर हूँ, शब्दनशब्द-रूप हूँ, अहम्-शब्द का वाच्य हूँ तथा अविकल्पस्वरूप हूँ।। ३२९।।

ऐहिकफलदं चन्द्रग्रहणम्

शक्ति-संस्रुत सुधारसक्रमात्
पूर्णमिन्दुमणुराहुराहरन् ।
छाययेदिह महाशुभे ग्रहे
द्रावितं पिबति तं महामुनिः।। ३३०।।

शक्तिस्रोत से प्रवाहित सुधारसक्रम से प्रवृद्ध पूर्ण-चन्द्र को आहत करता हुआ राहु उसे महान् शुभ चन्द्रग्रहण की वेला में आच्छादित कर लेता है। परसंविद् से अनुगृहीत शिवयोगी द्रावित रस-निःष्यन्द का सुमधुर पान करता है।। ३३०।।

सूर्यग्रहणम्

प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्र-
विद्रावितामृतरसोत्सुकितः खमाता।
स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसन्तु
पूर्णे ग्रहेऽत्र रसयेत् त्रयघट्टनज्ञः।। ३३१।।

प्राण-सूर्य-प्रमाण द्वारा हठात् गृहीत प्रमेयचन्द्र से निश्च्योतित अमृतरस के लिये उत्सुक शून्यप्रमाता स्वर्भानु (राहु) सूर्य को आच्छादित कर लेता है पर, उपर्युक्त त्रिकप्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के संघट्ट (एकीकरण) का ज्ञाता शिवयोगी ही सूर्यग्रहण वेला में रसास्वादन कर पाता है।। ३३१।।

सर्वतः प्रथमं भासे भासे भानतयापि च।
भासमानतया भासे भासी, नास्म्यहमस्मि भाः।। ३३२।।

सबसे पहले मैं ही प्रकाशमान होता हूँ। भानरूप से भी मैं ही प्रकाशमान होता हूँ। विषयों की भासमानता में भी मैं ही प्रकाशमान

होता हूँ। मैं किसी साधन के द्वारा भविष्यत् में प्रकाशमान होऊँगा-ऐसा नहीं है, मैं तो प्रकाशस्वरूप ही हूँ।। ३३२।।

प्रतिक्षणमहं भासे क्षणं भाति मयि स्थितम्।
अविच्छिन्नमहं भासे क्षणं विच्छिद्य भासते।। ३३३।।

मैं प्रत्येक क्षण भासमान रहता हूँ। क्षण मुझमें ही स्थिति पाता है एवम् भासित होता है। मेरी प्रकाशमानता विच्छेदरहित है। किन्तु क्षण (कालखण्ड) विच्छिन्न होकर ही भासित होता है।। ३३३।।

अस्पन्दोप्यस्मि सस्पन्दः
सस्पन्दोऽस्पन्दभानकृत्।
स्पन्दास्पन्दविनिर्मुक्तो
भाम्यहं चोभयात्मकः।। ३३४।।

मैं स्पन्दनशील एवम् स्पन्दोत्तीर्ण भी हूँ, सस्पन्द होकर भी अस्पन्द-भान का जनक हूँ। स्पन्द और अस्पन्द उभय से उत्तीर्ण एवम् उभयात्मा मैं सदा भासमान हूँ।। ३३४।।

नाप्नोमि संकोचविकासलेशम्
उन्मेषमेषौ मम शक्तिधर्मः।
विभामि सर्वात्मतयापि चैको
भामात्ररूपोस्मि न भानगम्यः।। ३३५।।

मैं लेशमात्र भी संकोच अथवा विकास को प्राप्त नहीं करता। उन्मेष और निमेष मेरी विमर्शशक्ति के धर्म हैं। मैं एक होकर भी सर्वरूप में भासित होता हूँ तथा भानमात्र हूँ। मैं भान का विषय नहीं हूँ।। ३३५।।

द्रष्टुं चापि स्फुटीकर्तुं यं नित्यमनुधावसि।
नीरूपः स त्वमेवासि शुद्धः स्वच्छो निरञ्जनः।। ३३६।।

जिस शुद्ध स्वात्मा को देखने एवम् स्पष्ट रूप से समझने हेतु सदा प्रयत्नशील रहते हो- वह तू ही हो। तू परिच्छिन्न रूपवाले नहीं हो, शुद्ध हो, स्वच्छ हो तथा निरञ्जन हो।। ३३६।।

स्वाभिज्ञोच्छलितानन्दो महास्पन्दसमन्वित:।
आप्लावितजगद्योगी कोपि भाति चिदम्बुधि:।। ३३७।।
स्वाभिज्ञोल्लसितानन्दोऽकृत्रिमस्पन्दवर्त्तन:।
अविच्छिन्नस्वरूपस्थो राजते कालभासक:।। ३३८।।

लाखों में कोई एक शिवयोगी बन पाता है। स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा से वह आनन्द में उमड़ता रहता है तथा मूलशक्ति स्पन्द से युक्त रहता है। वह चित्समुद्र होने से सम्पूर्ण जगत् को आनन्द-रस से आप्लावित करता हुआ काल का भासक होता है तथा अविच्छिन्न निजरूप में स्थित होकर विराजमान होता है।। ३३७-३३८।।

विश्वातीतपदे तिष्ठन् योगी नायाति याति च।
समाधिं नैव जानाति संसारं मोक्षमेव वा।। ३३९।।

योगी विश्वातीतदशा में स्थित रहता है। वह आवागमन से वर्जित होता है तथा अविच्छिन्न स्वस्वरूप में स्थित रहता है। अत: वह न समाधि को जानता, न संसार को, न मोक्ष को।। ३३९।।

स्वाभिज्ञयास्थित: स्वस्मिन् व्यापिस्पन्देन च श्वसन्।
देहमुक्तोपि देहस्थो विश्वं स्वस्मिन् प्रपश्यति।। ३४०।।

योगी-जन स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा द्वारा स्व में स्थित होता है। वह व्यापक स्पन्दशक्ति में स्थित रहकर देहभाव से उत्तीर्ण होकर देह में रहता हुआ भी सम्पूर्ण विश्व को स्वयम् में स्थित देखता है।। ३४०।।

पश्यंश्च वर्णयंश्चापि स्वरूपं योगिपुङ्गवः।
कुर्वन् कर्माण्यनेकानि वैषम्यं याति जातु नो।। ३४१।।

शिवयोगी अपने स्वरूप का अनुभव एवम् वर्णन करता हुआ जागतिक कर्मों का भी सम्पादन करता है किन्तु समता का परित्याग नहीं करता।। ३४१।।

अविकल्पो विकल्पानां प्रभवः सर्वगो यथा।
तथा सर्वविकल्पानां लयस्थानं त्वमप्यहम्।। ३४२।।

सर्वत्र व्याप्त अविकल्प स्वात्मा जिस तरह सभी विकल्पों का उत्पत्तिस्थान है उसी तरह प्रलयस्थान भी है। हे अन्तेवासिन्! तू और मैं- वास्तविक रूप में अविकल्प स्वात्मा ही है।। ३४२।।

विकल्पितं विश्वमिदं समस्तं
प्रभासते देव! मयि त्वयीव।
लये सुषुप्तौ न विभाति विश्वं
न भाससे त्वं न च भाम्यहं ते।। ३४३।।
इत्थं न भेदोस्ति कथंचिदावयो-
रस्त्येव भेदोपि चिदात्मनोर्द्वयोः।
देहाद् विमुक्तोस्ति भवान् विभावसु-
र्देहे विभातोस्मि लघुश्च कालिकः।। ३४४।।

हे प्रभो! विकल्पात्मक सम्पूर्ण विश्व जैसे तुझ में भासित होता है वैसे मुझमें भी। प्रलय एवम् सुषुप्ति में न संसार भासित होता है, न तू भासित होते हो और न मैं तुझे भासित होता हूँ। इस प्रकार यद्यपि हम दोनों में कुछ भी भेद नहीं है तथापि (जीव और ईश्वर में) यह भेद तो प्रत्यक्षसिद्ध है- आप देह-बन्धन से वर्जित हैं, अखण्ड विभु प्रकाश हैं,

बन्धन-वर्जित हैं। जबकि मैं देह के परिच्छेदन में ही भासित होता हूँ, लघुता में ही विचरण करता हूँ तथा कालसापेक्ष व्यवहार करने को विवश होता हूँ।। ३४३-४४।।

अहं त्वमिति शब्दाभ्यां यदा भेदोऽवभास्यते।
तदाल्पत्वं महत्त्वं च नित्यत्वं चाप्यनित्यता।। ३४५।।
त्वमेवैको यदा भासि भाम्यहं चैककोऽथवा।
तदा भेदस्य नामापि दृश्यते न मयि त्वयि।। ३४६।।

हे प्रभो! अहम् और त्वम्- इन दो शब्दों से हम दोनों के मध्य जब भेद भासित होता है तब मुझमें अल्पता और अनित्यता भासित होती है और आप में महत्त्व एवम् नित्यत्व भासित होते हैं। पर, जब एक तू ही भासित होते हो अथवा एक मैं ही भासित होता हूँ तब मुझमें अथवा तुझमें भेद की चर्चा भी नहीं होती।। ३४५-४६।।

पूर्णशक्तिसमृद्धोस्मि पूर्णानन्दसुनिर्भरः।
इच्छाज्ञानक्रियायुक्तो देशकालावभासकः।। ३४७।।

गुरुकृपा से मैं पूर्णशक्ति से समृद्ध एवम् निजानन्द में निर्भर हूँ। मैं स्वातन्त्र्यशक्ति के तीन प्रभेदों– इच्छा, ज्ञान, क्रिया से संयुक्त हूँ तथा देश-काल का भी भासक हूँ।। ३४७।।

शिवोऽहमानन्दघनस्वभावः
प्रकाशयन् देहमिमं च विश्वम्।
अनाद्यनन्तोस्मि सदैकरूपो-
प्यसंख्यदेहेपि विभासमानः।। ३४८।।

अपने देह तथा सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता हुआ मैं आनन्दमय शिवस्वरूप हूँ। अनगिनत देहों में एकही मैं अनादिकाल से

भासित होता रहा हूँ और अनन्तकाल तक भासित होता रहूँगा।। ३४८।।

महानन्तस्वरूपोस्मि महाकाशावभासकः।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपोहमस्म्यरूपश्च तत्त्वतः।। ३४९।।

चिद्गगन-रूप मैं महाकाश का भासक हूँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म हूँ, और तत्त्वतः अरूप हूँ।। ३४९।।

सर्वमन्तर्गतं मेस्ति भिन्नं मत्तो न किञ्चन।
अहमस्मि परा भूमिः सर्वशक्त्येकशक्तिमान्।। ३५०।।

सब कुछ मेरे अन्तर्गत है, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है। मैं सम्पूर्ण दृश्य की परम उद्गमभूमि हूँ, समस्त शक्तियों की एक शक्ति (स्वातन्त्र्य) से विलसित हूँ।। ३५०।।

सन्देहाभावतो नात्मा परीक्ष्यो ज्ञानिनो भवेत्।
सर्वतः प्रथमं सिद्धे प्रमाणं नोपयुज्यते।। ३५१।।

ज्ञानी व्यक्ति को स्वात्मा के परीक्षण की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता है। समस्त दृश्य का प्रकाशक स्वात्मा है। अतः उसे प्रकाशित करने में दृश्य प्रमाण नहीं बन सकता।। ३५१।।

परीक्ष्यो वा भवेदात्मा कः स्यादस्य परीक्षकः।
पूर्णशक्तिमतो ह्यस्य शक्तिः पूर्णेव राजते।। ३५२।।
उन्मिषन् व्यापको भामि निमिषन् व्याप्यतायुतः।
उन्मिषञ्शिवतामेमि निमिषन्नेमि देहिताम्।। ३५३।।

हे अन्तेवासिन्! यदि स्वात्मा को परीक्ष्य बनाना चाहो भी तो इसका परीक्षक कौन होगा? स्वात्मा पूर्ण शक्तिमान् है। इसकी शक्ति

पूर्ण है। मैं उन्मेषावस्था (विकस्वर होने से) में शिवता को प्राप्त कर व्यापकस्वरूप हो जाता हूँ और निमेषावस्था में देही बनकर व्याप्यस्वरूप हो जाता हूँ॥ ३५२-३५३॥

उन्मिषन् विश्वरूपोहं निमिषन्नस्मि देहवान्।
क्रियमाणोऽल्पतामेमि महत्त्वं स्वात्मनि स्थितः॥ ३५४॥

मैं उन्मेषावस्था में विश्वरूप बन जाता हूँ तथा निमेषावस्था में देहमात्र में स्थित होता हूँ। परिच्छिन्न क्रिया का सम्पादन करने से अल्प बनना और स्वात्मा में स्थित होने से महान् बनना मेरा खेल है अन्य कुछ नहीं॥ ३५४॥

प्राप्तुं वा भवितुं वापि यतमानोऽस्म्यविद्यया।
आवृतो, विद्यया युक्तोऽकुर्वन् भामि च कर्मकृत्॥ ३५५॥

जब मैं अविद्या से आवृत होता हूँ तब कुछ प्राप्त करने अथवा कुछ भव्य होने के लिये प्रयत्नशील होता हूँ। पर, जब विद्या से युक्त होता हूँ तब सर्वविध कर्म करता हुआ भी अकर्त्ता बनकर भासमान होता हूँ॥ ३५५॥

अविकल्पा स्थितिर्नित्या शुद्धैवास्ति निरञ्जना।
सविकल्पा भवत्यत्र साञ्जना विषयग्रहा:॥ ३५६॥

अविकल्पक स्थिति नित्य है, शुद्ध है तथा निरञ्जन है। सविकल्पक स्थिति विषयों का ग्रहण करने वाली है। अतएव साञ्जन है॥ ३५६॥

विना विश्वं शिवः कस्य न विश्वं शिवमन्तरा।
स्वस्माच्चिद्धि संसारे जाते भाति शिवोपि नुः॥ ३५७॥
अत एव विना भक्तं न शिवस्थितिरुच्यते।
संसारे सति भक्तानां स्थितौ, विश्वस्थितिर्भवेत्॥ ३५८॥

विश्व के विना विश्वनाथ किसके होंगे? शिव के विना विश्व किसका होगा। स्व से भासित संसार के विना मानव को शिव भासित नहीं हो सकता। अतएव कहा जाता है– भक्त के बिना भगवान् नहीं होते (नहीं रहेगा जीव तो कौन कहेगा शिव), संसार होने पर भक्त होत हैं तथा भक्त की स्थिति होने पर शिवस्थिति होती है।। ३५७-५८।।

स्थितिः सत्तात्मिका ज्ञेया सत्ता नित्या शिवे स्थिता।
शिवसत्ता जगत्सत्ता जगत्सत्ता शिवात्मिका।। ३५९।।

शिवस्थिति शब्द में स्थिति शब्द का अर्थ है– "सत्ता"। वह शिव में नित्य विराजमान रहती है। शिव की सत्ता ही जगत् की सत्ता है। अतः जगत् की सत्ता शिवरूपा ही है।। ३५९।।

नित्यमव्यक्तरूपोस्मि नित्याखण्डस्वरूपवान्।
नित्यं विच्छिन्नभासात्माऽनन्तदेहस्वरूपवान्।। ३६०।।

मैं सदा अव्यक्तरूप हूँ, अखण्डरूप हूँ साथ ही विच्छिन्नप्रकाश होकर अनन्तदेह को धारण भी करता हूँ।। ३६०।।

न मनागपि भेदोस्ति शिवे शुद्धेऽहमात्मनि।
भेदो देहकृतो ह्यस्ति न देहः पारमार्थिकः।। ३६१।।

अहम्-विमर्शशील परिशुद्ध शिव में लेशमात्र भी भेद नहीं है। भेद तो देह को लेकर होता है, देह तो पारमार्थिक है नहीं।। ३६१।।

स्वप्ने यथैकदेहस्थोऽनेकदेहं प्रपश्यति।
पुत्रान् यथा पितानेकान् तथा पश्यञ्शिवःस्थितः।। ३६२।।

हे अन्तेवासिन्! जैसे तू एक देह में स्थित रहकर स्वप्नावस्था में अनेक देह का अनुभव एवम् धारण करते हो। जैसे एक पिता

अनेक पुत्रों को देखता है। वैसे एक शिव अनेक रूपों में स्वयम् को देखता है॥ ३६२॥

शब्दातीतमहं नौमि शब्देन विभुमव्ययम्।
अलक्ष्यं सर्वरूपेण पश्यन्नेमि तदात्मताम्[१६]॥ ३६३॥

मैं शब्दातीत अव्यय प्रभु की स्तुति शब्दप्रयोग द्वारा करता हूँ। क्योंकि मैं अलक्ष्य स्वात्मा को सर्वरूप में देखता हुआ महेश्वर स्वरूप हो गया हूँ॥ ३६३॥

एको विभुः सर्वमयश्च सर्वो
यतस्त्वमेवासि ततोऽस्म्यहं त्वम्।
ब्रूषेऽहमात्मानमहं ब्रवीमि
शरीरितां यासि यदाथ यामि॥ ३६४॥

हे अन्तेवासिन्! एक, विभु तथा विश्वमय तू ही हो। यत: मैं भी वैसा हूँ, अत: मुझमें और तुझमें अभेद है। अतएव तू अपने को अहम् बोलते हो और मैं भी अपने को अहम् बोलता हूँ। जब तू देही बन जाते हो तब मैं भी देही बन जाता हूँ॥ ३६४॥

संविदस्ति निराधारा स्वप्रकाशा निरञ्जना।
स्वोद्भासितैश्च वागर्थैर्भिन्ना चित्रेव भास्यते॥ ३६५॥

संवित् का कोई भी आधार नहीं है, यह स्वप्रकाश है तथा निरञ्जन है। संविद् अपने द्वारा उत्पन्न किये गये तथा भासित होने वाले इदन्तापन्न वस्तुओं के द्वारा भिन्न रूप से तथा विचित्ररूप से ठीक वैसे ही भासित होती है जैसे अपने द्वारा उत्पादित अर्थों से वाक् (वाणी) विचित्र तथा विभिन्न रूप से भासित होती है॥ ३६५॥

---

१६. पश्यन्नस्मि तदात्मक:।

संविदस्ति स्वयं नित्या स्वच्छा शुद्धा महेश्वरी।
इयमेव महाविद्या पराहंभावविग्रहा।। ३६६।।

संविद् स्वयम् नित्य है, स्वच्छ, शुद्ध तथा शिवरूपा है। यह महाविद्या तथा पराहम्भाव शब्दों से जानी जाती है।। ३६६।।

महामन्त्रस्वरूपेयं भासयत्यखिलं जगत्।
सेव्यमानामृतमयी स्वस्वरूपावभासिका।। ३६७।।

यह संविद् महामन्त्रस्वरूप है, अखिल जगत् का प्रकाशन करती है, अमृतमयी है। जब गुरुकृपा से यह अपनी बन जाती है तब स्वात्ममहेश्वर को अवभासित कर योगिजन को चमत्कृत कर देती है।। ३६७।।

सेविता स्वस्वरूपेण स्वातन्त्र्यं प्रददात्यसौ।
सर्व-दैन्यापहन्त्रीयं परसिद्धिप्रदा सदा।। ३६८।।

स्वभावरूप में ज्ञात होने पर यह संविद् स्वातन्त्र्यशक्ति को प्रकट कर देती है तथा परा सिद्धि को प्रदान कर समस्त दुःख-दैन्य का उन्मूलन कर देती है।। ३६८।।

सिद्धायाः साध्यता नास्ति सिद्धैवेयं स्वतः स्वयम्।
प्राप्ताया न पुनः प्राप्तिः प्रापत्रीयं विश्ववस्तुनः।। ३६९।।

संविद् सिद्ध है। यह साध्य नहीं हो सकती। इसकी सिद्धरूपता स्वयम् सिद्ध है। सदा प्राप्त होने से इसकी प्राप्ति नहीं की जा सकती। यह तो समस्त वस्तुओं को प्राप्त कराती रहती है अतएव यह परमोपादेय है और श्लाघ्य भी।। ३६९।।

अपश्यन्ती निजं रूपं दर्शिकाऽन्यस्य जायते।
इत्येवं मनुते मूढो गुरुपूजापराङ्मुखः।। ३७०।।

संविद् अपने स्वरूप को नहीं देखती, वह केवल अन्य वस्तु को दिखाती है– ऐसा मूढ़ व्यक्ति ही मानता है। यत: वह गुरुपूजा से पराङ्मुख रहता है।।३७०।।

संविद् भगवती साध्या नैव नास्त्येव साधिका।
भासमाना स्वरूपेण भाति सर्वात्मिका स्वत:।। ३७१।।

शिव की प्रिया संवित् न तो साध्य है और न साधक। वह सर्वरूपा है, स्वत: भासमान है तथा सदा स्वरूपस्थ है।। ३७१।।

संविदेका स्वयंसिद्धा भानाभानविवर्जिता।
स्वभावतो विभान्त्यस्यां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तय:।। ३७२।।

संवित् एक है, स्वयम् सिद्ध है। भान और अभान से वर्जित है। संवित् में जाग्रत्, स्वप्न एवम् सुषुप्ति स्वभावत: भासित होते हैं।। ३७२।।

स्वयम्प्रकाशमानेयं संविदेका विभासते।
भासन्ते विषयास्तत्र भिन्नाभिन्नात्मका अमी।। ३७३।।

संवित् अखण्ड है, स्वप्रकाश है। उसमें भिन्न एवम् अभिन्न रूप से सारे विषय भासित होते हैं।। ३७३।।

पूर्ण: सदैवास्मि शिवस्वरूप:
पूर्ण: सदैवास्मि च संविदात्मा।
पूर्ण: सदैवास्मि वपुर्विहीन:
पूर्ण: सदैवोन्मिषितस्वभाव:।। ३७४।।

शिवस्वरूप मैं सदापूर्ण हूँ एवम् संवित्स्वरूप भी मैं सदा पूर्ण हूँ। देहभाव से उत्तीर्ण होने के कारण मैं पूर्ण हूँ। यत: उन्मेष हमारा स्वभाव है अत: मैं विश्वरूप होने से भी पूर्ण हूँ।। ३७४।।

अरूपं यस्य वै रूपं सर्वरूपतया स्थितम्।

अगाधं तमहं वन्दे शिवं स्वं निर्विकल्पकम्।। ३७५।।

जिसका स्वरूप-रूपवर्जित है और जो सर्वरूप से स्थित है उस निर्विकल्प अगाध स्वात्ममहेश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।। ३७५।।

अहमित्यात्मिका शक्तिः स्वस्वरूपावमर्शिका।

विद्यैव कथ्यते मायाऽनन्तदेहावभासिका।। ३७६।।

अहम् शक्ति "स्वरूप" का परामर्श करती है। अनन्त देहों का अवभासन करने वाली यह शक्ति विद्या और माया कहलाती है।। ३७६।।

संविदात्मात्मनो मध्ये बाह्यमन्तर्गतं जगत्।

संविन्मयं स्वरूपं स्वं ततो बाह्यं न किञ्चन।। ३७७।।

बाह्य एवम् आभ्यन्तर जगत् संवित्स्वरूप आत्मा के अन्तर्गत है। यतश्च अपना स्वरूप संविन्मय है इसीलिये स्वरूप से बाह्य कुछ भी नहीं है।। ३७७।।

विकल्परहितं रूपं संविदः स्वं स्वयं स्थितम्।

तत्रैव भाति बाह्यान्त ईशो भिन्नं क्रिया कला।। ३७८।।

संवित् का स्वरूप विकल्परहित है। वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। उसी में बाह्य एवम् आभ्यन्तर भिन्न-भिन्न क्रिया तथा कला के साथ ईश्वर भी भासित होते हैं।। ३७८।।

संविद्विभिन्नं नहि किञ्चिदस्ति

संवित्स्वरूपं सकलं विभाति।

संविन्निरूढः पुरुषः सदैव

प्राप्नोति सर्वं फलमिच्छयैव।। ३७९।।

संवित्स्वरूप सबकुछ भासमान है। जो साधक संविद् में निरूढ़ रहता है वह इच्छामात्र से सबकुछ प्राप्त कर लेता है।। ३७९।।

समस्तसम्पत्प्रविकासिकायै
मनोऽनुकूलं भवभूतिदात्र्यै।
नम: स्वशक्त्यै जगदम्बिकायै
विमुक्तिभुक्त्यात्मकरूपवत्यै।। ३८०।।

मैं अपनी शक्ति जगदम्बा को नमस्कार करता हूँ जो भोग और मोक्षरूपा है, समस्त सम्पदाओं को विकसित करने वाली है तथा मनोनुकूल कल्याणपरम्परा को विस्तारित करने वाली है।। ३८०।।

क्रियात्मिकायै भवभानदात्र्यै
स्वरूपभानोद्यतशक्तिशक्त्यै।
गुर्वात्मिकायै भवभीतिहन्त्र्यै
मायात्मिकायै तनुभानदात्र्यै।। ३८१।।
नम: शिवायै करुणैकमूर्त्यै
नमो नमस्ते मदभिन्नशक्त्यै।
नम: परायै सकलार्थवाचे
स्वयम्प्रकाशामितविग्रहायै।। ३८२।।

विद्याशक्ति भवभीति का विनाश करती है तथा माया ज्ञानशक्ति को संकुचित करती है। करुणामूर्ति सुशिवा शक्ति को नमस्कार अर्पित हो एवम् स्वयंप्रकाश अनन्तशक्तिधारिणी परावाणी को नमस्कार अर्पित हो। सभी शब्द एवम् अर्थ की आत्मा परावाणी ही है।। ३८१-८२।।

पश्यन् स्पृशन्ननुभवन् बाह्यान्त:स्थमिव स्थितम्।
स्वयम्प्रकाशमानोहं स्वस्मिन्नेवास्मि संस्थित:।। ३८३।।

बाह्य एवम् आन्तररूप से स्थित वस्तु को देखने, स्पर्श करने एवम् अनुभव करने के साथ स्वयम्प्रकाश स्वात्म-महेश्वर, स्वरूप में ही प्रतिष्ठित है।। ३८३।।

जन्ममृत्युजराव्याधिसुखदु:खाद्यनाश्रित:।
नित्यो निरञ्जनश्चैको भावाभावावभासक:।। ३८४।।
अहमस्म्येव, भव्योहं नैव, नास्मि कदापि न।
लभ्यो वा दर्शनीयो वा स्वप्रकाशमय: सदा।। ३८५।।

जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, सुख–दु:ख आदि से वर्जित नित्य, निरञ्जन, एक, भावों एवम् अभावों का अवभासक मैं सदा विराजमान हूँ। मैं बाद में होऊँगा ऐसा नहीं, कदापि नहीं होऊँगा ऐसा भी नहीं, लभ्य और दर्शनीय भी नहीं। मैं तो सदा स्वप्रकाश हूँ।। ३८४-३८५।।

सर्वं परिच्छिन्नमवस्तु तुच्छम्
इदन्तया भासितमस्ति यत् तत्।
नित्य: शिव: सर्वमय: पुरस्ताद्
विभासमानोऽस्म्यनिदन्तयैव।। ३८५क।।

सभी परिच्छिन्न, इदन्ता रूप में भासित होते हैं और वे तुच्छ होने से अवस्तु हैं। मैं नित्यशिव सर्वमय हूँ और सकृत्प्रकाशमान हूँ। मुझमें इदन्ता का लवलेश भी नहीं है।। ३८५क।।

पश्यामि कालं न न देशमेव
नोर्ध्वं न चाधो न पुरश्च पश्चात्।
नाणुं महद्वा न शिवं न शक्तिं
शून्यं न रूपं स्वयमेव राजे।। ३८६।।

मैं काल को नहीं देखता, देश को भी नहीं देखता, ऊपर-नीचे,

आगे-पीछे, अणु-महान्, शिव-शक्ति अथवा शून्यरूप को नहीं देखता। मैं अन्यनिरपेक्ष होकर स्वयम् विराजमान रहता हूँ।। ३८६।।

वाञ्छामि किञ्चिन्न भवामि किञ्चिन्
म्रिये न, जीवामि न, विद्यमानः।
शान्तः स्थिरः स्पन्दमयोभिराजे
विध्वस्तकल्लोलमयप्रपञ्चः।। ३८७।।

मैं न कुछ चाहता हूँ, न कुछ बनता हूँ, न मरता हूँ, न जीता हूँ। मैं विद्यमान रहता हुआ शान्त, स्थिर एवम् स्पन्दमय होकर देदीप्यमान हूँ। अनेक तरंगों से युक्त प्रपञ्च बाधित हो चुका है। जैसे मैं अद्वितीय महेश व्यापक हूँ, वैसे ही महेश्वरी मेरी शक्ति भी व्यापिका एवम् विश्वप्रकाशिका है।। ३८७।।

व्यापकोऽस्मि यथैवाहमद्वितीयो महेश्वरः।
तथैव व्यापिका शक्तिर्भासिकास्ति महेश्वरी।। ३८८।।

जैसे मैं अद्वितीय महेश्वर व्यापक हूँ उसी तरह मेरी (अभिन्न) माहेश्वरी शक्ति भी अर्थों का प्रकाशन करने वाली है एवम् विराट् है।। ३८८।।

योऽहं नित्यो विभुश्चास्मि शिवः शून्यादिभासकः।
तस्य मे भासिका देवी तथैवास्त्यहमात्मिका।। ३८९।।

मैं नित्य हूँ, विभु हूँ और शून्य से देहपर्यन्त का भासक शिव हूँ। मेरी शक्ति अहम् (पूर्णाहम्) है और वह भी शिव की भाँति सब वस्तुओं का प्रकाशन करती है।। ३८९।।

व्यापकोस्मि यथैवाहमद्वयः परमेश्वरः।
व्यापिका विश्वजननी शक्तिर्मेस्ति तथेश्वरी।। ३९०।।

जिस तरह मैं अद्वैत भाव में स्थित व्यापक परमेश्वर हूँ उसी तरह मेरी शक्ति पारमेश्वरी है। वह व्यापिका है और सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि करने वाली है।। ३९०।।

अभेदो भेदतां याति याति भेदोऽप्यभेदताम्।
नित्यं स्वरूपनिष्ठस्य दृढ़ं स्वमभिजानतः।। ३९१।।

जो साधक दृढ़ता से अपने स्वरूप को पहचान लेता है वह निज रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसका अभेद, भेदरूप से भासित होता है एवम् भेद, अभेदरूप से भासित होता है।। ३९१।।

शक्तिं स्पन्दं च वायुं च परिच्छिन्नान्तु देहगाम्।
हित्वा त्वं सुस्थिरो भूयाः स्वस्वरूपेऽहमात्मनि।। ३९२।।

देह में रहने वाली शक्ति जो स्पन्द और वायु के रूप में जानी जाती है वह परिच्छिन्न होती है। अर्थात् खण्डरूप होती है। अतः हे साधक! तुम परिच्छिन्न शक्ति को छोड़कर अहमात्मक पूर्णाहन्ता (निज स्वाभाविकरूप) में सुस्थिर हो जाओ।। ३९२।।

यथा त्वय्यस्ति मे भक्तिस्तथा तेस्ति कृपा मयि।
कालिकी कृत्रिमा भक्तिः शाश्वती ते कृपा प्रभो!।। ३९३।।

हे प्रभो! जैसे तुझमें मेरी भक्ति है– उसी तरह मेरे ऊपर तुम्हारी कृपा विराजमान है। भक्तों के द्वारा की जाने वाली भक्ति किसी सीमित समय में सम्पन्न होने से कृत्रिम कहलाती है। किन्तु आपकी कृपा सदा मेरे ऊपर बनी रहती है अतः वह कृत्रिम नहीं है अपितु शाश्वत है।। ३९३।।

कृपामेवावलोकेहं भक्तिं नैव कदाचन।
कृपानपायिनी माता भक्तिर्जन्यास्ति भोगदा।। ३९४।।

मैं, शिवकृपा को ही देखता हूँ, अपने द्वारा शिव के प्रति की गई भक्ति को नहीं। कृपा कभी भी नष्ट होने वाली नहीं होती। वह माँ के समान पालन-पोषण करने वाली है। किन्तु भक्ति जन्य होती है। भले ही वह अनेक भोगों को और प्रदान करे।। ३९४।।

कृपामेवावलम्बेहं भक्तिं प्रियतमां नहि।
स्वल्पशक्त्या भवेद् भक्तिः कृपां नित्यां हृदि श्रये।। ३९५।।

मैं, प्रभु के द्वारा की जाने वाली कृपा का अवलंबन करता हूँ, न कि अपने प्रभु के चरणों में की गई प्रियतमा भक्ति का। कारण यह है कि हमारे द्वारा की जाने वाली भक्ति स्वल्पशक्तिसाध्य होती है पर प्रभु की कृपा नित्य होती है। अत: मैं प्रभु की कृपा को ही अपने हृदय से शरण बनाता हूँ।। ३९५।।

कृपामेवावलम्ब्याहं सर्वशक्तिसमन्वितः।
प्रभवामि जगत्यत्र सर्वत्रैव निरर्गलः।। ३९६।।

मैं शिवकृपा का अवलंम्बन कर उनकी सभी शक्तियों से जुड़ कर सही मायने में उनका दास बन जाता हूँ। अत एव इस सम्पूर्ण जगत् में मैं बेरोकटोक सर्वकर्तृत्वसम्पन्न होकर प्रवृत्त होता रहता हूँ।। ३९६।।

सर्वत्र रक्षिका सर्वसाधिका मे कृपा विभोः।
व्यापकः परिपूर्णोहं सर्वकृत् कृपया कृतः।। ३९७।।

प्रभु की कृपा सर्वत्र मेरी रक्षा करती है और मेरे समस्त कार्यों का सम्पादन करती है। उन्होंने अपनी कृपा से मुझे बना दिया है.... व्यापक, परिपूर्ण और सर्वकर्त्ता।। ३९७।।

भक्त्या दृष्टा तथा लब्धा नित्या सिद्धा कृपा मया।
भूता मे परमा शान्तिर्गलितेच्छोस्मि साम्प्रतम्।। ३९८।।

प्रभु की नित्यसिद्ध कृपा को मैंने उनके चरणों में की गई भक्ति से देखा और प्राप्त कर लिया, मुझे परम शान्ति मिली और अब किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह गयी।। ३९८।।

सप्ततिर्मे गता, वर्त्ते साम्प्रतं त्वधिके ततः।
कृतं सर्वं मया कार्यं कर्त्तव्यं सुधियां च यत्।। ३९९।।
तिष्ठेयं यदि गच्छेयं न भेदः प्रतिभाति मे।
जन्ममृत्यू यतो भातो न स्वस्मिन् मे कदाचन।। ४००।।

मेरी आयु के ७० वर्ष बीत चुके। सम्प्रति मैं उससे ऊपर चल रहा हूँ। विद्वानों के लिये जो कर्तव्य हैं उन सबों को मैंने कर लिया और कृतकृत्य हो गया। मैं अब जीवित रहूँ अथवा मर जाऊँ उनमें मुझे कोई भेद नहीं दीखता। क्योंकि स्वात्ममहेश्वर में मुझे न जन्म दीखता है, न मृत्यु दीखती है।। ३९९–४००।।

आनन्दनिर्भरवपुर्निजलाभतुष्टो
योगी प्रयात्यपि च येन पथैव यत्र।
आनन्दपूर्णनिजनेत्रगभस्तियुक्तान्
मार्गस्थितानपि जनान् प्रकरोति हृष्टान्।। ४०१।।

मैं स्वस्वरूप के लाभ होने से अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ, आनन्द से परिपूर्ण हूँ। ऐसा योगी जिस मार्ग से प्रस्थान करता है उस मार्ग में मौजूद मानवों एवम् जन्तुओं को भी वह आनन्दपूर्ण अपने नेत्रज्योति से पवित्र कर हर्षित कर देता है।। ४०१।।

योगी निजानन्दभरो यदि स्यात्
कालेषु सर्वेषु समत्र देशे।
कुर्यात् तदा साधु जनस्य शान्तिं
हन्याच्च दुष्टाञ् श्रुतिमार्गभेतॄन्।। ४०२।।

योगी यदि सभी काल और सभी स्थानों में निजानन्द से परिपूर्ण होकर उल्लसित होता रहता है तब वह समस्त साधुजन को शान्ति-प्रदान करने में तथा वैदिक मार्ग की अवहेलना करने वाले दुष्टों का संहार करने में पूर्ण समर्थ होता है।। ४०२।।

अविकल्पादगाधाच्च कुतश्चिच्च मदेव हि।
कम्पमानः समुद्धूतो व्यापिस्पन्दः प्रवर्त्तते।। ४०३।।

अविकल्प, अगाध, विलक्षण मुझ स्वात्म-महेश्वर से ही किञ्चित्-चलनशील होता हुआ स्पन्द प्रवृत्त होता है जो व्यापी अर्थात् परिच्छेदन से उत्तीर्ण होता है।। ४०३।।

शून्यं भिन्दन्नरूपात्मवायुरूपत्वमागतः।
सूर्याचन्द्रमसौ भूत्वा मातृवह्नित्वमागतः।।
पृथिव्यां देहरूपायां प्राणत्वं प्रतिपेदिरे।। ४०४।।

स्पन्द, शून्यरूप आकाश का भेदन करता हुआ अरूप वायु—स्वरूप में प्रकट होता है। तदनन्तर वह सूर्य और चन्द्रमा के रूप में प्रगट होता है, पुनश्च प्रमाता वह्नि का रूप धारण करता है। इसी प्रकार देहरूप पृथ्वी में प्राणभाव को प्राप्त कर स्पन्द ही विराजमान होता है।। ४०४।।

आदावेव तमालिङ्ग्य योगी यश्चावतिष्ठते।
स पूर्णशक्तिसम्पन्नो प्राभवीं शक्तिमश्नुते।। ४०५।।

योगी, आद्यावस्था में ही व्यापी स्पन्द के स्वरूप को समझकर उसका आत्मसात् कर प्रतिष्ठित होता है अतः वह पूर्णशक्तिसम्पन्न होकर प्रभुशक्ति का भोग करता है।। ४०५।।

आत्मना व्यापकस्तिष्ठन् मध्यधामसमाश्रितः।
मोहयेन्मारयेच्चापि ध्वंसयेच्च जगद् विभुः।। ४०६।।

अपने स्वभाव से व्यापकरूप में स्थिति–सम्पन्न विभु (योगी अथवा शिव) मध्यधाम में विकस्वर होकर सम्पूर्ण जगत् को मोहित करता है, मारता है तथा भस्मसात् करता है। अत: वह सर्वोत्कर्षेण विराजमान रहता है।। ४०६।।

प्रतिबन्धतया भातं देशं कालं न संस्पृशेत्।
तदा पश्येदिदं प्रोक्तं स्वात्मभावे दृढ़ं स्थित:।। ४०७।।

योगी, साधक, प्रतिबन्धकरूप से ज्ञात होते हुए देश और काल का स्पर्श नहीं करें बल्कि स्वात्मभाव में दृढ़ता से स्थित रहे तथा सम्पूर्ण इदम् (देश काल आदि) को द्रष्टा से अभिन्न रूप में भावना करें।। ४०७।।

आत्मानमात्मना पश्यन् नीरूपं व्यापकं स्थितम्।
देहादिशून्यपर्यन्तमाधारं नानुचिन्तयेत्।। ४०८।।

स्वरूप को स्वयं देखने से यह सहज भावना योगियों के साथ घटती है कि वह स्वयं को परिच्छिन्न आकार से वर्जित, व्यापक और सदास्थित रूप में अनुभव करता है। वह कभी भी जगत् के आधारभूत देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण अथवा शून्य का भेदमय चिन्तन नहीं करता।। ४०८।।

इयं पूर्णदशा प्रोक्ता पूर्णशक्तिसुनिर्भरा।
ईशद्रुहो विनाशाय धर्मसंस्थापनाय च।। ४०९।।
परात्मापि मदात्मापि चैक एव यतस्तत:।
सर्वं कर्तुमकर्तुं वा शक्तोहं स्वेच्छयैव हि।। ४१०।।

यह योगियों की और ईश्वर की पूर्णदशा कहलाती है। इसमें सम्पूर्ण शक्ति ओतप्रोत रहती है। ईशद्रोही दुष्टों के विनाश हेतु एवम् धर्म की संस्थापना हेतु परमात्मा और मुझ जैसा योगी यत: भिन्न-भिन्न

नहीं होते अत: ये दोनों ही स्वेच्छामात्र से सब कुछ करने में या नहीं करने में पूर्णसमर्थ होते हैं।। ४०९--१०।।

पूर्णे पूर्णतयोल्लास: स्वात्मबुद्धिवपुर्गत:।
इच्छाज्ञानक्रियारूप: प्रत्यक्षं भाति योगिन:।। ४११ ।।

योगी का उल्लास, स्वात्मा में इच्छारूप से, बुद्धि में ज्ञानरूप से और शरीर में क्रिया रूप से पूर्णतया प्रत्यक्षरूप में विभासित होता है क्योंकि यह उल्लास पूर्णब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है।। ४११ ।।

प्रिययाङ्गनया साकमानन्दो व्यज्यते यथा।
व्यज्यातां स तथाङ्गेन प्रियेणान्तर्बहि:स्थया।। ४१२।।

जैसे अपनी प्रिया पत्नी के साथ आनन्द की अभिव्यक्ति होती है वैसे ही आभ्यन्तर और बाह्य रूप से स्थित शक्ति के साथ प्रिय अंग भी आनन्द की अभिव्यक्ति क्यों नहीं कर सकते?।। ४१२।।

प्रकाशमान एव त्वं यं गवेषयसे सदा।
सोऽस्म्यानन्दघनो नित्यस्त्वं स्वयं भव सुस्थिर:।। ४१३।।

हे साधक! तुम सदा प्रकाशमान हो। तुम जिस किसी वस्तु की खोज, किसी भी समय करते हो उस वस्तु को आनन्द रूप देने वाले आनन्दघन, तुम स्वयम् हो, नित्य हो अत: सुस्थिर हो जाओ, खोज की चक्कर छोड़ दो।। ४१३।।

भोजनेनाथ वित्तेन लब्धेनानन्दवान् यथा।
तथा भव स्वभावेन पूर्णानन्देन सर्वदा।। ४१४।।

आनन्दरूपतैवास्ति प्रत्यक्षं मोक्ष ईक्षित:।
साप्यानन्दविमर्शेन व्यक्ता सत्यवतिष्ठते।। ४१५।।

जैसे सामान्यजन भोजन एवम् वित्त की प्राप्ति से आनन्द की

अनुभूति करता है वैसे तुम पूर्णानन्द निजस्वभाव से सर्वदा आनन्दवान् रहो। शास्त्रकारों ने आनन्दरूपता को प्रत्यक्ष मोक्ष कहा है। और वह आनन्दरूपता आपके द्वारा किये गए आनन्दविमर्श से अभिव्यक्त होकर प्रतिष्ठित होती है।। ४१४-४१५।।

बाह्यान्तरं वेद्यकुलं च यावन्-
मायाप्रमाता ग्रसते स्वरूपे।
तावच्च तत्पूर्वपरक्रमोऽपि
तेनैव साकं ग्रसितत्वमेति।। ४१६।।

जो कुछ वेद्य जगत्, बाह्य अथवा आभ्यन्तर रूप से प्रतिभासित होता है उसे मायाप्रमाता अपने स्वरूप में ग्रसित करता है। उसके साथ ही वेद्यकुल का पूर्वापर क्रम भी प्रमाता के द्वारा ही ग्रास बना लिया जाता है।। ४१६।।

प्रतिक्षणं वेद्यदशाप्रकाशस्-
तदर्थसंरम्भवियोगयोगाः।
ये निष्क्रियेऽहम्परमप्रकाशे
भवन्ति ते तत्र लयं प्रयान्ति।। ४१७।।

प्रतिक्षण वेद्यदशा का प्रकाशन होता रहता है एवम् तदर्थ उद्योग होते हैं, किसी से वियोग होता है और किसी से योग होता है। ये सब निष्क्रिय, अहमर्थ, महार्थ, स्वयम्प्रकाश स्वात्ममहेश्वर में ही उत्थित होकर वहीं विलीन होते हैं।। ४१७।।

संरम्भोद्योगनिष्पत्तिज्ञानवन्तो हि दुःखिनः।
संसरन्ति च संसारे क्रीडन्त्यात्मनि ये स्थिताः[१७]।। ४१८।।

१७. क्रीडन्त्येव बुधाः परम्।।

जो लोग संरम्भ उद्योग एवम् निष्पत्ति के ज्ञान से ज्ञानवान होते हैं वे सदा दु:खी रहते हैं और इस घोर संसार में व्यथित होते रहते हैं। इसके विपरीत आत्मभाव में विचरण करने वाले योगीजन जगत् को क्रीड़ा के रूप में स्वीकार कर आनन्दित होते हैं।। ४१८।।

विशुद्धाद्वयचिन्मात्रस्वस्वभावात्मनि स्थित:।
देहादिव्यतिरिक्ते तु सर्वं साधयति स्वयम्।। ४१९।।

योगी निजस्वभाव में स्थित रहता है। स्वभाव चिन्मात्र है, अद्वय है तथा विशुद्ध है। अतएव योगी स्वयम् सब कुछ सिद्ध कर लेता है।। ४१९।।

वैषम्यं भिन्नता वापि यत्र भाति न किञ्चन।
स एवानन्द इत्युक्तो योगिभि: स्वात्मनात्मनि।। ४२०।।

जहाँ न कुछ विषम होता है और न कोई भेद होता है उसे शैवागम में आनन्द शब्द से कहा जाता है। योगी लोग निजात्मा में स्वयं ही आनन्द का अनुभव करते हैं।। ४२०।।

उपादेय: स आनन्द: स्वात्मभूत: सदास्थित:।
अप्रमत्तो भवेदत्र जीवन्मुक्तिसुखेच्छया।। ४२१।।

आनन्द हमारी स्वात्मा है। स्वात्मा सदा ही स्थितस्वरूप है। साधकों के लिये वही परम उपादेय है। वह जीवन्मुक्ति का सुख है। अत: इस विलक्षण सुख की इच्छा रखने वाले साधकों को स्वात्मभूत आनन्द के सन्दर्भ में अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिये।। ४२१।।

या चमत्कारिता प्रोक्ता सेच्छैवास्ति च वस्तुत:।
भुञ्जानरूपतैवेयं स्वात्मविश्रान्तिलक्षणा।। ४२२।।

स्वात्मचमत्कारिता वस्तुत: अपनी इच्छा है। वही भुञ्जान भी

कहलाती है अर्थात् वह सारे भोगों को भोगने वाली शक्ति है और वह स्वात्मविश्रान्ति से भिन्न नहीं है।। ४२२।।

सर्वदां सर्वदा स्तौमि देवीं स्वात्मचमत्कृतिम्।
इच्छात्मिकां महाशक्तिमहंरूपां महेश्वरीम्।। ४२३।।

स्वात्मचमत्कृति सब कुछ देने वाली भगवती है, दिव्य है, इच्छाशक्तिस्वरूपा है, महाशक्ति है, अहम् परामर्श है अतएव महेश्वर से अभिन्न है, मैं सदा उसकी स्तुति करता हूँ।। ४२३।।

नेयं प्रयत्नजा नित्या शुद्धामर्शनविग्रहा।
स्वस्वभावात्मिका शक्तिः शैवी चैतन्यभासिका।। ४२४।।

स्वात्मचमत्कृति, प्रयत्न से पैदा नहीं की जा सकती क्योंकि वह शक्ति, विशुद्ध विमर्शरूपिणी है, तथा शिव में चैतन्य का अवभासन करने वाली है।। ४२४।।

मेयावभासनोद्योगरहितेयमनामया।
प्रकाशपरमार्थैव स्वरूपामर्शरूपिणी।। ४२५।।

यह परिच्छिन्नता से उत्तीर्ण होने के कारण अनामया है क्योंकि इसे प्रमेयों के प्रकाशन हेतु उद्योग नहीं करना पड़ता है। यह चमत्कृति केवल एक स्वरूप का परामर्श करती है अतः इसका पारमार्थिक स्वरूप प्रकाश ही है, अन्य कुछ नहीं।। ४२५।।

आसक्तिमस्मिन् परिहाय देहे
विकाशयञ्छक्तिमनन्तरूपाम्।
सन्तिष्ठते यः सततं विपश्चित्
साप्नोति सिद्धिं समवाप्तमुक्तिः।। ४२६।।

नित्यत्वं व्यापकत्वं च सिद्धत्वं स्वस्य वेत्ति यः।
अत्र योगेऽधिकारी स भुक्तिमुक्ती लभेत वै।। ४२७।।

अपने स्थूल शरीर में आसक्ति का त्याग कर अनन्त रूपों में विभाजित स्व—शक्ति को विकसित करने से विद्वान् योगी "छोड़-पकड़ की बुद्धि" का त्याग कर विराजमान रहता है क्योंकि मुक्ति उसकी दासी बन जाती है और सर्वसिद्धि उसकी सेवा करती रहती है। नित्यत्व, व्यापकत्व और सिद्धत्व को जो अपने स्वरूप के सन्दर्भ में जान लेता है वह इस योग का अधिकारी है और वह भोग एवम् मोक्ष दोनों को प्राप्त कर लेता है।। ४२६—४२७।।

आगच्छता मया मार्गे न मारयेति वाक् श्रुता।
चिदाह्लादक्रियां भिन्नां कुर्वतैकीकृता तदा।।
तदा लब्धा स्थितिः पूर्णा प्रोक्ता यात्र मया पुरा।
ज्ञानलब्धं हि पूर्णत्वं क्रियासाध्यत्वमागतम्।। ४२८-४२९।।

दशाश्वमेध, काशी के प्रसिद्ध घाट से समाधि से उठकर जोशी-निवास लौटते वक्त मार्ग में हमने सुना "इन्हें मत मारो" उस समय ज्ञान और आह्लाद की क्रिया को भिन्न रूपों में देखकर हमने उन्हें एकीकृत कर लिया तब पूर्णता की स्थिति देखने को ही बनती थी और हमने स्थूल देह की आसक्ति के त्याग से अखण्ड अहमर्थ की अनुभूति के सन्दर्भ में इस सच को देखा कि ज्ञान में चरितार्थ पूर्णता क्रिया में भी प्रतिबिम्बित होती है।। ४२८—४२९।।

इच्छाज्ञानक्रियारूपा परैवेयं महेश्वरी।
उल्लसन्ती स्वभावेन वर्णमन्त्रपदात्मिका।। ४३०।।

चिदेवानन्दतामेत्य भात्यपारतया सदा।
आनन्दोऽप्यपरानात्मा भाति चिद्रूपत: पुन:।। ४३१ ।।

अहमात्मिका शक्ति परा शक्ति है, महेश्वरी है, इच्छा ज्ञान एवम् क्रियारूपिणी है, स्वभाव से उल्लसित होने वाली अर्थात् अकृत्रिम है, यही वर्ण-मन्त्र और पदरूपों को धारण कर लेती है।। ४३०।।

चित्–शक्ति, आनन्द शक्ति के रूप में उल्लसित होने लगती है, पुनश्च आनन्द शक्ति चित् शक्ति के रूप में विलसित होने लगती है। इस तरह से शक्तियों का उल्लासन भेद और अभेद उभय रूपों में होता है।। ४३१ ।।

आनन्दसागरे स्वात्मन्युल्लस्योल्लस्य वीचय:।
वृत्तयो भिन्नतामेत्य पतन्त्येव स्वभावत:।। ४३२।।

स्वात्मा आनन्दसागर है और उसमें उल्लासन का सातत्य होने से वृत्तिरूप तरंग परस्पर भिन्न रूप में उत्थित होते हैं तथा विसर्जित होते हैं। यह अत्यन्त सहज है, कृत्रिम नहीं।। ४३२।।

प्रत्यक्षतो भामि चिदात्मकोह-
मानन्दपूर्णोऽद्वय एक एव।
देहोऽप्ययं भानसहायकत्वान्-
नाप्नोति भिन्नत्वमहंप्रथात:।। ४३३।।

चित् स्वरूप मैं आनन्द से परिपूर्ण हूँ, अद्वय हूँ, अनेक नहीं, ऐसा साक्षात्कार मुझे होता है। इस साक्षात्कार में यह स्थूल देह भी सहायक होता है अत: अहम्प्रथा से पृथक्स्वरूप में देह का आकलन नहीं होता।। ४३३।।

अखण्ड रूपोस्मि विभासमानश्-
चिदद्वयानन्दवपुः समन्तात्।
समीहितेयं स्वमनीषयेयं
दशापि दृष्टा परिपूर्णरूपा।। ४३४।।

मैं अखण्डरूप से प्रकाशमान हूँ, चित्स्वरूप हूँ, परिपूर्ण आनन्दमय हूँ। यह परिपूर्णावस्था जिसे योगी चाहते रहते हैं उसे भी मैंने अपनी प्रतिभा से साक्षात्कार कर लिया है।। ४३४।।

इमामेवावलम्ब्याहं चिदानन्दमयीं स्थितिम्।
सदा स्थास्यामि सर्वत्र पूर्णज्ञानक्रियामयीम्।। ४३५।।
इयं पूर्णा स्थितिर्लब्धा क्रियाज्ञानोभयोरपि।
प्रसादाद् देवदेवस्यालभ्या जन्मशतैरपि।। ४३६।।

इस पूर्णज्ञान और पूर्णक्रियामयी चिदानन्दघन स्थिति को आत्मसात् कर मैं सदा सर्वत्र विराजमान रहता हूँ। क्रिया और ज्ञानशक्ति की यह परिपूर्ण स्थिति देवाधिदेव महादेव की कृपा से मुझे प्राप्त हुई जो अन्य लोगों के लिये सैकड़ों जन्म के बाद भी अलभ्य बनी रहती है।। ४३५–३६।।

ब्रह्माण्ड पिण्डाण्डमिदं प्रवृद्धं
यस्मिन्ननेकं ननु मय्यनन्ते।
सोऽहं निराभाससदावभास-
रूपश्चिदाह्लादमयोऽद्वयोस्मि।। ४३७।।

मुझ अनन्त विराट् एक स्वात्ममहेश्वर में अनेक ब्रह्माण्ड एवम् पिण्ड फैले हुए हैं वह मैं निराभास हूँ, और सदा अवभासरूप हूँ। मैं चिन्मय, आह्लादमय और अद्वय हूँ।। ४३७।।

नाभ्यन्तरं यत्र न यत्र बाह्यं
नोर्ध्वं न चाधो न च देशकालौ।
उच्चावचं भाति निरञ्जनो योऽ-
हं सोह्यलक्ष्योपि सदैव लक्ष्यः॥ ४३८॥

जहाँ कुछ आभ्यन्तर नहीं है, न कुछ बाह्य है, न ऊपर है, न नीचे है, न देश है, न काल है, जो सदा निरंजन है, उच्चावचरूप में विद्यमान है, वह "अहम् सः" के रूप से सदा किसी भी साधनों से अलक्ष्य होने पर भी एकमात्र परम लक्ष्य है॥ ४३८॥

नानुस्मर त्वं प्रतिभासमानं
देहादिशून्यान्तमसत्यमल्पम्।
किन्तु स्मर त्वं निजरूपमाद्यं
सच्चिद्धनानन्दमयं विशुद्धम्॥ ४३९॥

तुम स्थूल देह से लेकर सूक्ष्म शून्यपर्यन्त इदन्ता के समस्त आयाम को असत्य एवम् अल्परूप में प्रतिभासित जानकर उनके स्मरण के पीछे मत भागो किन्तु अपने आद्यस्वरूप का स्मरण करो जो पूर्ण सत्य है, चिन्मय है, आनन्दघन है एवम् विशुद्ध है॥ ४३९॥

गृहाण नान्तस्त इव प्रवृद्धं
स्पन्दं कलाजन्यमनित्यमल्पम्।
किन्तु स्पृश त्वं सततप्रवृद्ध-
मन्तर्बहिःशून्यस्वतःप्रवृत्तम् ॥ ४४०॥

जो स्पन्द, कला से जन्य है, अनित्य है, अल्प है, अपने ही अन्दर से उत्पन्न होकर बढ़ा है, उसका ग्रहण नहीं करो। तुम सातत्येन विकस्वर स्वतः प्रवृत्त मौलिक स्पन्द को पकड़ सको तो उसे पकड़ो जो

आभ्यन्तर एवं बाह्य के द्वैत से वर्जित है।। ४४०।।

विद्योतमान: परमप्रकाशोऽ-
हं नैव गृह्णामि जगद्विभातम्।
शक्त्या स्वयाविष्ट इवास्मि नित्यं
स्वातन्त्र्यदेव्याऽमृतमादधत्या ।। ४४१ ।।

मैं स्वयं राजमान परम प्रकाश हूँ, प्रतिभात जगत् को पकड़ने की चेष्टा नहीं करता। मैं तो अमृत का आधान करने वाली अपनी देवी स्वातन्त्र्यशक्ति से स्वस्वरूप में सदा समाविष्ट रहता हूँ।। ४४१ ।।

इदन्तया भामि कदापि नाहं
व्याप्यत्वदात्र्या विषयावभात्र्या।
शरीरसंस्पर्शमतो न कुर्वे
गृह्णामि वायुं न शरीरतोहम्।। ४४२।।

मैं कभी भी विषयों को भासित करने वाली व्याप्यता अर्थात् परिच्छिन्नता का बोध कराने वाली इदन्ता से विभासमान नहीं होता। अत एव मैं शरीर का स्पर्श नहीं करता और शरीर के माध्यम से प्राणवायु का ग्रहण नहीं करता हूँ।। ४४२।।

कर्तव्यमस्तीह न मे तु किञ्चित्
क्रीडामि नित्यं नु तथापि किञ्चित्।
स्पन्दात्मकं वायुमितस्ततश्च
ह्यादाय धूनोमि बहि: शरीरात्।। ४४३।।

इस संसार में यद्यपि मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है तथापि मैं सदा किसी खेल को खेला करता हूँ। मैं स्थूल परिच्छिन्न देह से बाहर रह कर स्पन्दस्वरूप वायु को स्वेच्छा से यहाँ वहाँ कभी भी ग्रहण करने और

त्याग करने का खेल खेलता हूँ।। ४४३।।

क्रीडायामस्मि संलग्नो देहचैतन्यसिद्धये।
इति वच्मि परं नैतत् सत्यं, सत्यं स्वभावतः।। ४४४।।

मैं देहचैतन्य के सम्पादन हेतु क्रीड़ा में संलग्न हूँ ऐसा बोलता हूँ। पर यह सत्य नहीं है, सत्य तो यह है कि मैं स्वाभाविक रूप से क्रीडा करता हूँ।। ४४३।।

यः प्रकाशमय एव केवलो
भाति भावभुवनादिविग्रहः।
बन्धमोक्षसुख दुःख कल्पकः
सोहमस्मि निजबोधवैभवः।। ४४५।।

जो केवल (स्वयम्) प्रकाशमय है, भावों और भुवनों का शरीर धारण कर विभासमान होता है, बन्धमोक्ष, सुखदुःख आदि द्वन्द्वमय कल्पनाओं की आधारभूमि है, वह निजबोधवैभव से विजृम्भित मैं स्वयम् हूँ, कोई अन्य नहीं।। ४४५।।

यतश्चलत्यहं सर्वदेहेष्वविरतं भुवि।
आधारः सोहमेवास्मि विश्वात्मा ह्यन्तनिर्गतः।। ४४६।।

सभी देहों में सम्पूर्ण धरती पर निरन्तर जिस व्यापक चैतन्य से अहम्बोध उल्लसित हो रहा है, वह आधार मैं ही हूँ तू अनुभव करो– स्वयम् को विश्वरूप में और अविनाशी रूप में।। ४४६।।

यतश्चलत्यहं सोहमस्मि नित्यः शिवो विभुः।
मयि प्रकाशमाने तु भाति विश्वं वपुः सुखम्।। ४४७।।

जिस अजस्रस्रोत से "अहम्" प्रवाहित है, वह नित्य, विभु शिव मैं हूँ स्वात्ममहेश्वर के प्रकाशमान रहते सम्पूर्ण विश्व अपना शरीर

मालुम पड़ता है और अत्यन्त सुखद।। ४४७।।

यतश्चलत्यहं शब्दः सर्वप्राणिषु सर्वदा।
स एवास्त्यहमर्थो हि व्यापकः परमः शिवः।। ४४८।।

सदा समस्त प्राणियों में प्रयुक्त अहम्शब्द जिस अजस्रस्रोत से प्रवृत्त है वह अहमर्थ व्यापक परम शिव परमार्थ है।। ४४८।।

एनं ब्रह्म शिवं शून्यं सन्मात्रं चिन्मयं पुनः।
आहू रामं नृसिंहादिं ज्ञानिनो भक्तिमानिनः।। ४४९।।

इसी परमार्थ शिव को ब्रह्म, शिव, शून्य, सन्मात्र, चिन्मय, राम, नृसिंह, आदि शब्दों के द्वारा भक्तिमान् ज्ञानीजन बोलते हैं।। ४४९।।

नायं ग्राह्यो न वा प्राप्यः कार्यश्चाप्ययमस्ति नो।
अज्ञेयोऽप्यस्त्यभिज्ञेयः प्रतिपत्त्या दृढ़ात्मना।। ४५०।।

यह स्वात्ममहेश्वर न ग्राह्य है, न प्राप्य है, न कार्य है प्रत्युत अज्ञेय होने पर भी दृढ़प्रतिपत्ति के द्वारा नितराम् ज्ञेय है।। ४५०।।

व्याप्यत्वं व्यापकत्वं च देहित्वं शिवता तथा।
बद्धत्वं चापि मुक्तत्वं भान्ति ज्ञस्य विकल्पनाः।। ४५१।।

व्याप्य होना, व्यापक होना, देही जीव होना, शिव होना, बद्ध होना, मुक्त होना– ये सारे भान हैं और ज्ञ (ज्ञानस्वरूप) शिव की अनन्त रूपों में विकल्पनायें हैं।। ४५१।।

प्रत्यभिज्ञावतः पुंसस्तिष्ठतः स्वात्मनात्मनि।
विविधा विषयाः सद्यः क्षणायन्ते बहिः स्थिताः।। ४५२।।

जो व्यक्ति स्वस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा शिवगुरु की कृपा से प्राप्त कर लेते हैं, स्वयम् स्वरूप में सुप्रतिष्ठित हो जाते हैं ऐसे योगी की दृष्टि

में बाह्य रूपों में भासित होने वाले विविध विषय क्षणभर के लिये स्वरूप से भिन्न रहते हैं दूसरे ही क्षण में वे स्वरूप दिखने लगते हैं।। ४५२।।

हित्वा समस्तं भवजालबन्धं
सम्बुद्ध्य स्वात्मानमशेषहेतुम्।
सन्धाय स्वातन्त्र्यबलं स्वकीयम्
आनन्दशक्त्या प्रियया रमेऽहम्।। ४५३।।

मैं सम्पूर्ण भवजालबन्धन का परित्याग कर अशेष जगत् के हेतु स्वात्मा को भलीभाँति समझकर, अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति का अनुसन्धान कर अपनी प्रिय आनन्दशक्ति के साथ रमण करता हूँ।। ४५३।।

आनन्दशक्तिः प्रथिता मदीया
विश्वावभासस्फुरणस्वभावा।
पराङ्मुखीं तां प्रणयैर्निधाय
स्वात्मावभासे विनियोजयामि।। ४५४।।

मेरी आनन्दशक्ति सुविख्यात है, सम्पूर्ण विश्व की प्रतीति में आनन्दशक्ति ही स्फुरित होती है। प्रेमप्रणय से उस पराङ्मुखी आनन्दशक्ति को स्वात्ममहेश्वर के प्रकाशन में लगाकर मैं चिन्मय हो जाता हूँ।। ४५३।।

ज्ञातो विभुः सम्प्रति किं निलीयसे
श्रीशक्तिसम्पन्नतया विभासताम्।
कालं भवान् सुप्त इवातिनीतवान्
जागर्तु सद्यो भवताच्च शक्तिमान्।। ४५५।।

विभु स्वात्ममहेश्वर! प्रत्यभिज्ञात हो गये हो अब छिपते क्यों हो?

शक्तिसम्पन्न होकर आप भासमान होवे। आपने सोये हुए व्यक्ति की भाँति अपने स्वर्णमय काल को अत्यधिक खो चुके अब सद्यः जागृत होकर शक्तिमान् के रूप में उल्लसित होवें।। ४५५।।

शक्त्यैकयैवाहमतीव जुष्टो
भासे सदा शक्तिसमूहदृब्धः।
सैकास्ति शक्तिस्त्वहमात्मिकेयं
शब्दात् परा शब्दविभासिका च।। ४५६।।

व्यापक एक ही शक्ति से सेवित होता हुआ मैं उसके अनन्तरूपों से परिवेष्टित होता हूँ। वह शक्ति कोई अन्य नहीं प्रत्युत "अहम्" ही है, जो शब्दों से "परे" है और उनकी प्रकाशिका भी है।। ४५६।।

अप्रमेयं स्वतः सिद्धं प्रमातुं यतते च यः।
स तु स्वस्कन्धमारुह्य नर्तनाय विचेष्टते।।४५७।।

जो अप्रमेय है, स्वयम् सिद्ध है, द्रष्टास्वरूप है ऐसे स्वात्ममहेश्वर को भी जो व्यक्ति किसी प्रमाण से सिद्ध होने पर हीं मानने के लिये राजी होना चाहता है वह निश्चित रूप से अपने कन्धे पर बैठकर नाचने की चेष्टा करता है।। ४५७।।

शयनोत्थानयोः स्वप्ने स्थितिर्देहावलम्बिनी।
एकस्यान्तेऽपरात् पूर्वं स्थितिः स्वच्छा शिवात्मिका।। ४५८।।

शयन (सुषुप्ति) में उत्थान (जागरण) में तथा स्वप्न में देह का आलम्बन कर हमारी स्थिति होती है। किन्तु जाग्रत् के अन्त तथा स्वप्न के आरम्भ में जो मध्य की स्थिति है एवम् स्वप्न-सुषुप्ति के मध्य की स्थिति तथा सुषुप्ति-जाग्रत् के मध्य की स्थिति देह-सम्बन्धवर्जित होती है वह स्वच्छ एवम् शिवात्मिका होती है।। ४५८।।

किमस्ति तत्त्वं देहादेरित्येवं परिभावयन्।
वेद्मि संवित्स्वरूपत्वं प्रकाशानन्दनिर्भरम्।। ४५९।।

देह, इन्द्रिय आदि में तात्त्विक स्वरूप को ढूँढ़ता हुआ, भावना करता हुआ मैं संवित्स्वरूप में प्रविष्ट होकर उसे संविद्रूप ही समझ लेता हूँ।। ४५९।।

ततः पश्याम्यनायासं संविद्रूपत्वमागतम्।
देहादिशून्यपर्यन्तं प्रकाशघनसन्निभम्।। ४६०।।

तदनन्तर सद्यः यह अनुभूति होती है कि देह से लेकर शून्य पर्यन्त समस्त प्रमातृवर्ग प्रकाशघन बनकर संवित्स्वरूप से अनतिरिक्त रूप में भासित होने लगती है।। ४६०।।

प्रकाशमानरूपश्च बहिरन्तः समुच्छलन्।
पूर्णामृतमयो भामि सर्वावच्छेदविच्युतः।। ४६१।।

मैं प्रकाशमानरूप हूँ। बाह्य और आभ्यन्तर रूपों में उच्छलित होता हूँ, पूर्ण अमृतमय हूँ तथा सभी परिच्छेदन से वर्जित हूँ।। ४६१।।

स्वयं प्रकाशमाने स्वे भानाभानविवर्जिते।
स्वप्नोपमे जगत्पूर्णं विभात्यानन्दसागरे।। ४६२।।

स्वयम् प्रकाशमान स्वस्वरूप में भान और अभान का विभेद नहीं है। आनन्दसागर मुझमें स्वप्नजगत् की तरह जाग्रज्जगत् भी भासित होता है।। ४६२।।

प्रकाशमानरूपस्य भविता न प्रकाशनम्।
यद्, यत् प्रकाशते किञ्चित् प्रकाशेऽहं तदेवहि।। ४६३।।

जो प्रकाशमान है उसे प्रकाशित करने की अपेक्षा ही नहीं होती।

यतश्च कोई भी वस्तु प्रकाशित होने से ही है अत: वह मुझ प्रकाश का ही अस्तित्व है।। ४६३।।

नित्यप्रकाशमानस्य भावि ते न प्रकाशनम्।
त्वयि प्रकाशते यद् यत् तदेव त्वं प्रकाशसे।। ४६४।।

हे अन्तेवासिन्! तू स्वयम् प्रकाशमान हो, "तुम्हारा प्रकाशन होना है" ऐसा नहीं है। तुझमें जो कुछ पुन: प्रकाशित होता है वह तुम्हारा ही प्रकाशन है।। ४६४।।

प्रकाशमानरूपस्य सत्ता नान्या हि विद्यते।
प्रकाशमानतैवास्य भवेत् तदपि जन्मिन:।। ४६५।।

प्रकाशमान स्वात्मा की अन्य कोई भी सत्ता नहीं होती। "प्रकाशमानता" ही स्वात्मा की सत्ता है, वह शरीरधारी प्रत्येक जीव के साथ एक समान है।। ४६५।।

प्रकाशमानस्य न मे कुतश्चिद्
भिदा न भीतिर्न विरागरागौ।
चिदेकरूपस्य न जन्ममृत्यू
शरीरहीनस्य न भोगमोक्षौ।। ४६६।।

प्रकाशमान मुझ स्वात्मा का किसी वस्तु से भेद नहीं है, भय नहीं है, राग-वैराग्य नहीं है। चिन्मय मुझ स्वात्मा में जन्म-मृत्यु सम्भव नहीं है तथा शरीरभाव वर्जित मुझमें भोग-मोक्ष की परिच्छिन्न सम्भावना भी नहीं है।। ४६६।।

अभेदैकरसे नित्ये देहमावृत्य तिष्ठति।
[१८]मा भासीद् भेदलेशोपि त्वयि नाथ! त्वदात्मन:।। ४६७।।

---

१८. त्वयि नाभाति भेदो मे नाथ! त्वामभिजानत:।

हे नाथ! चिदानन्द एक रस नित्य आपके स्वरूप में, देहभान को आवृत कर मैं स्थित हूँ अतः त्वदात्मा होने से तेरे मेरे मध्य अब लेशमात्र भेद भी भासित न हो।। ४६७।।

कृतोऽनेको यत्नो न च किमपि दृष्टं नवफलं
गतो भूयान् कालः सुकृतबललब्धस्य वपुषः।
इदानीन्ते शम्भो! शरणमुपयातः पुनरहं
शिवः शान्तः स्वच्छो गलितभवबाधोस्मि सुखितः।। ४६८।।

अनेक जीवनों में बहुत सारे यत्न मैंने दुःखों से छुटकारा पाने हेतु किये किन्तु कोई भी नवीनफल दिखाई नहीं दिया। पुण्य-प्रताप से प्राप्त उत्कृष्ट इस मानव शरीर के भी बहुत सारे समय व्यतीत हो गये कुछ भी नूतनता नहीं पा सका। हे शम्भो! अब मैं आप स्वात्ममहेश्वर की शरण में पहुँच गया हूँ तब मेरी समस्त भवबाधा दूर हो गयी है, मैं सुखमय, शिव, शान्त और स्वच्छ रूपों में अपने को सुप्रतिष्ठित पाता हूँ।। ४६८।।

प्रकाशात्मन् स्वात्मंस्त्वमसि सततं देहरहितः
स्फुरन्ती ते शक्तिर्भवति सहसा देहसहिता।
तथापि त्वं भक्त्या भव निजमहिम्नि स्थिरसुखस्
तदैव स्या मुक्तो निखिलभवबाधाविरहितः।। ४६९।।

हे प्रकाशस्वरूप स्वात्मन्! तू यद्यपि सदा देहरहित हो किन्तु तेरी शक्ति स्फुरणशील है अतः तू देहसहित हो जाते हो तथापि तू भक्ति के साथ अपनी महिमा में स्थिरसुख का अनुभव करो ऐसा करने से तेरी सकल बाधा दूर हो जायेगी तथा तू मुक्त होने की अनुभूति करोगे।। ४६९।।

महादेवं दिव्यं सकलभवसारं शरणदं
जनः को जानीते निजहृदयगं विश्ववपुषम्।
ततः शम्भुर्भूयाद् भुजगपतिहारेन्दुमुकुटस्-
त्रिनेत्रो गौरीशो विमलमतिदो नेत्रपथगः।। ४७०।।

सकल जगत् के सारतत्त्व, शरण देने वाले, विश्वमय दिव्य महादेव को अपने हृदय कमल पर विराजमानरूप में कोई भी सामान्य जन नहीं जान पाता है। अतः भगवान् शम्भु सर्पराज का हार पहनकर, चन्द्रमा को मुकुट धारण कर, तीन नेत्रों से युक्त होकर गौरीपतिरूप से दर्शन देते हुए विमल मति प्रदान करें।। ४७०।।

स्तुतो देवैः सर्वैर्विविधवचसाभीष्टनिरतैस्
तथाभ्रान्तैर्लोकैः सुखमभिलषद्भिश्च बहुधा।
स्तुतिव्याजैः शम्भुर्बत निजकृतौ तैस्तु निहितस्
त्वहं सेवे देवं वरदवरवाञ्छाविरहितः।। ४७१।।

समस्त देव विविध वाणियों से अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हेतु तथा "भौतिक वस्तुओं से सुख होता है" ऐसी भ्रान्ति, मन में पालने वाले लौकिक जन, सुख प्राप्ति हेतु— शिव स्तुति करते हैं। सच यह है कि स्तुति के व्याज से ये जय, पराजय, स्त्री, पुत्र धन-दौलत आदि स्वार्थ में ही शिव को व्यापारित करते हैं। किन्तु शिवगुरु-कृपापात्र मैं वरद शिव की वर-प्राप्ति की इच्छा से वर्जित होकर स्वात्मरूप से ही उन परमशिव को भजता हूँ।। ४७१।।

फलं सर्वं तुच्छं जनिमृतियुतं वेद्मि मनसा
ततो देवं नान्यं जगति फलदं स्तौमि विफलम्।
स्तुवे दिव्यं नित्यं परमपददातारमनिशं
शिवं शान्तं स्वान्ते स्थितमखिलवाञ्छाहरमजम्।। ४७२।।

मैं अपने स्वच्छ मन से समस्त फल को तुच्छ समझता हूँ क्योंकि उनकी उत्पत्ति और नश्वरता को जानता हूँ अत: फल को देने वाले स्व से भिन्न देव की व्यर्थ ही स्तुति नहीं करता। मैं तो नित्य निरन्तर परमपददायक दिव्य शान्त शिव (जो अपने हृदय में शाश्वत विराजमान हैं तथा सभी तुच्छ वाञ्छा का हरण करने वाले हैं) को स्वात्मरूप से भजता हूँ।। ४७२।।

शरीरव्यासक्त्या सकलजनता ज्ञानरहिता
भजन्ते त्वां स्वल्पं किमपि किमपि प्राप्तुमनसा।
त्वदात्मान: शम्भो तव वपुरिदं विश्वमखिलं
प्रपश्यन्त: प्राप्तुं न च किमपि हातुं विदधते।। ४७३।।

हे शम्भो! सारे लोग, शरीर में आसक्ति होने से ज्ञानरहित हैं अतएव अल्प की प्राप्तिकामना से आपको भजते हैं किन्तु जो योगी सम्पूर्ण विश्व को आपका शरीर जानते हैं वे कुछ पाने और कुछ खोने हेतु प्रयास नहीं करते।। ४७३।।

त्वमेवैक: शम्भो!भव विभवरूपोसि भगवन्।
त्वमात्मा त्वं देव: सुहृदसुहृदौ मोक्षनिरयौ।
क्रिया ज्ञानं ध्यानं त्वमसि सकलं तत्फलमहो
स्वत: स्तोता स्तुत्यो भवसि परमानन्दवलित:।। ४७४।।

भगवन्! शम्भो! तू विश्व तथा विश्वोत्तीर्ण हो, जीवात्मा हो, परमात्मा हो, मित्र हो, अमित्र हो, सुख हो दु:ख हो, क्रिया, ज्ञान, ध्यान के साथ उनके फल भी हो, परमानन्द से उल्लसित तू ही स्तुतिकर्ता एवम् स्तुत्य भी हो। आपकी जय हो।। ४७४।।

यत्पश्यामि विचारयामि सततं कुर्वे च यद्यत् किल
शम्भो! तन्न मदीयमस्ति निखिलं त्वच्छक्तिविस्पन्दनम्।
एतच्चापि विमर्शनं प्रकुरुषे देहे स्थितस्त्वं स्वयं
सत्यं त्वं निजशक्तिभातविषयग्राहिस्वभावः सदा।। ४७५।।

हे शम्भो! निरन्तर जो कुछ देखता हूँ, विचारता हूँ, करता हूँ वह सब मेरा कुछ नहीं अपितु आपकी शक्ति का स्पन्दन है। इस तरह का विमर्श भी देह में स्थित होकर स्वयम् तू ही करते हो। परमार्थतः निजशक्ति से भासित विषयों को ग्रहण करने के स्वभाव से विजृम्भित तू नमस्य हो।। ४७५।।

नित्यं निरावरणमप्रतिमस्वरूपं
शम्भुं स्वभावविमलं हृदि संस्फुरन्तम्।
पश्यन्ति नैव कृतिनः सुकृतैर्भवन्तं
यावद् भवान्न गुरुरूपतया चकास्ति।। ४७६।।

हे शिव! आप नित्य हैं, निरावरण हैं, अप्रतिम हैं, स्वभाव से विमल हैं तथा हृदय में स्फुरित हैं। किन्तु सुकृती लोग अनन्तपुण्यों के बल से भी तब तक आपका साक्षात्कार नहीं कर पाते जब तक स्वयम् आप उन्हें गुरुरूप से प्राप्त नहीं हो जाते।। ४७६।।

विद्वत्ता बहुविज्ञता सुकविता व्याख्यातृताऽऽचार्यता
सर्वैश्वर्यमनीहतापि शिवता ये चापि चान्ये गुणाः।
तान् मन्ये मनुते तृणाय च तृणं त्वत्पादरक्तोत्पलाऽऽ-
मोदास्वादनगाढमत्तहृदयो धन्योहमन्योपि यः।। ४७७।।

हे स्वात्मन्! आपके रक्तोत्पलाभचरण (लाल कमल के सदृश चरण) के आमोदास्वादन (सौरभ) से गाढ़ (अत्यन्त) मतवाले हृदय

वाला, मैं अथवा मादृश शैव साधकजन विद्वत्ता, बहुज्ञता, सुकवित्व, व्याख्यातृता, आचार्यता, सर्वैश्वर्य, अनीहता, शिवता एवम् अन्य भी ऐसे किसी गुण को शुष्क घास की तरह तुच्छ समझते हैं।। ४७७।।

स्वीयाऽनाहतकामिनीव कुपिता वैमुख्यमाप्ता शिवाऽ
शान्ता क्लेशमहोदधौ भ्रमयति भ्रान्तिं शिवं तन्वती।
तां सम्यक् प्रणयैः प्रसाद्य मधुरैर्ध्वानैः समं स्पन्दनै-
रूर्ध्वाधःस्थसितासितोद्भवपदोद्भूतैर्बुधः श्लिष्यतु।। ४७८।।

शिव की शक्ति सुशिवा है, कल्याण-भाव को वितरित करने वाली है किन्तु जिस तरह अपनी कामिनी का तिरस्कार करो और वह कुपिता हो जाती है, उसे विमुख कर डालो तो वह अशान्त हो जाती है, पुनश्च क्लेशसागर में भ्रान्ति के साथ भ्रमण कराती है उसी तरह सुशिवा को तिरस्कृत करो तो वह भी बन्धन में डालकर भरमाती है। कामिनी की तरह अपनी सुशिवा को प्रेम प्रणय से प्रसन्न कर डालो, मधुरध्वनि से ध्वनित उच्चावचरूपों में स्थित सितासित कमल की सुगन्धिपरिपूरित स्पन्दनों से आलिङ्गन-सुख का अनुभव कर कृतार्थ हो जाओ।। ४७८।।

स्वाधारादुल्लसन्ती द्युतिविदितमहादिव्यतेजःस्वरूपा
षट्चक्रं भेदयन्ती गतिकृतमधुरध्वानमावेदयन्ती।
प्राप्येशं मोदयन्ती दशशतकमले व्याप्य विश्वं स्थिता या
विश्वानन्दप्रवाहान् वितरतु भवतां कौलिकी कुण्डली सा।। ४७९।।

अपनी आधार शक्ति से उल्लसित होने वाली, श्रुतियों में महान् दिव्य तेजोमय रूपों में वर्णित, कुलकन्या कुण्डली, षट्चक्रों का भेदन करती हुई अपनी ऊर्ध्वगतिक्रम में मधुर-ध्वनि का सम्पादन करने वाली

सहस्रार में ईश्वर के साथ सामरस्य-सुख का भोग करती हुई सम्पूर्ण विश्व का व्यापन कर समस्त आनन्दप्रवाहों को आपके अन्दर प्रवाहित कर आपको नित्यतृप्त बनावे॥ ४७९॥

अङ्गीकृता मे हृदयेन पूर्णता
प्रत्यक्षतः सा परिपूर्णविग्रहा।
लब्धा मया लब्धचरापि विस्मृता
संस्पन्दमाना किल कालवर्जिता॥ ४८०॥

मैंने हृदय से पूर्णता को स्वीकारा। वह परिपूर्णस्वभाव से साक्षात् ही मुझे प्राप्त हुई। यद्यपि स्वरूप होने से वह पहले से ही मुझे प्राप्त थी किन्तु विस्मृत हो जाने से अप्राप्त लगने लगी, पुनश्च प्रत्यभिज्ञा होने से प्राप्त हुई। अब यह भान, महोत्सव मना रहा है कि निज पूर्णता काल-निरपेक्ष होकर सदा स्पन्दनशील है॥ ४८०॥

मत्तो विभिन्नो ननु कोस्ति किन्तत्
यं प्रार्थये यत्समवाप्तुकामः।
भेदावभासस्त्वदवाप्तिविघ्नो
मोहो महांस्तं त्यजतोस्ति सिद्धिः॥ ४८१॥

स्वात्मशिव! मुझसे भिन्न कौन व्यक्ति या वस्तु है, जिसे चाहूँ और किसी से माँगू। तेरी प्राप्ति में विघ्न है– भेद-भान। उसका ही दूसरा नाम है– मोह। इसका परित्याग करने से स्वात्म-सिद्धि निश्चित रूप से प्राप्त होती है॥ ४८१॥

भवद्रूपं जगत्सर्वं निरवच्छिन्नमव्ययम्।
पश्यतो मे न संकोचो जन्ममृत्युविभासकः॥ ४८२॥

प्रभो! सम्पूर्ण जगत् अव्यय एवम् अखण्ड आपका ही स्वरूप है,

इसे देखता हुआ मैं जन्म और मृत्यु को आत्मसात् करनेवाले संकोच को दूर भगा चुका हूँ।। ४८२।।

भवद्रूपे सदैकस्मिन् रूपे मे भवतु स्थितिः।
अखण्डा परिपूर्णैव कालक्रमविवर्जिता।। ४८३।।

हे प्रभो! आपका स्वरूप अखण्ड है, एकरस है। उसमें मेरी काल़क्रम के संकोच से शून्य, अखण्ड परिपूर्ण स्थिति सदा बनी रहे।। ४८३।।

ब्रह्मादिदेवर्षिसुयोगिवर्य्यै-
रन्यैश्च भूतैरनिशं स्तुतोऽपि।
योऽस्त्यस्तुतोऽद्यापि महाननन्तः
स्तुत्यस्वरूपं ननु तं स्तुवेऽहम्।। ४८४।।

ब्रह्मप्रभृति (ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि) देवगण, देवर्षि, योगिगण एवम् अन्य प्राणियों के द्वारा दिनरात स्तुति किये जाने पर भी महान् अनन्त शिव की स्तुति आज तक पूरी नहीं हो सकी। यतः शिव स्तुत्य-रूप वाला है अतः उनकी स्तुति मैं करता हूँ।। ४८४।।

मद्भिन्नं नहि किञ्चिदस्ति भुवनं तत्त्वं शिवाद्यात्मकं
निर्व्याजोस्मि महेश्वरः सुकृतिनां सर्वार्थदो निश्चलः।
मद्भासैव विभाति विश्वमखिलं मत्सत्तया सत्त्ववत्
सद्यो याति विलीनतां पुनरिदं मय्येव चान्तर्मुखे।। ४८५।।

मुझसे भिन्न कोई भुवन नहीं, कोई शिव-शक्ति सदाशिव प्रभृति तत्त्व नहीं। मैं तो निर्व्याज हूँ, महेश्वर हूँ, सुकृती को सब कुछ देने वाला हूँ, निश्चल हूँ। मुझ प्रकाश से ही सारा विश्व प्रकाशित होता है, मेरी सत्ता से ही विश्व सत्तावान् है और मेरे स्वरूपोन्मुख होने पर सारा विश्व मुझमें ही विलीन हो जाता है।। ४८५।।

विशुद्धं स्वात्मानं रविमिव वियद्व्याप्तकिरणं
तथा सर्वस्याद्यं गगनमिव सर्वस्थितिकरम्।
नवाङ्कूराक्रान्तक्षितिमिव विकल्पाहितरुचिं
स्फुरत्प्राणोल्लासैरमृतपरिपूर्णोदधिमितः ।। ४८६ ।।

स्वात्ममहेश्वर ने, सूर्य के सदृश सम्पूर्ण आकाश में अपनी रोशनी फैला रखा है, गगन की तरह सबसे पूर्व रहकर सर्वाधार है। जैसे नवीन अङ्कुरों से सस्यश्यामला धरती सुशोभित होती है वैसे ही हमारे विकल्पों से आच्छादित अर्थात् सुशोभित स्वात्ममहेश्वर है। स्फुरित होते हुए प्राणोल्लासन से अमृतपरिपूर्ण उदधिस्वरूप इस स्वात्ममहेश्वर को प्राप्त कर मैं कृतार्थ हो रहा हूँ।। ४८६ ।।

या चैका सहजोन्मिषन्त्यपि सदा देहादिविश्वान्तकैः
शब्दैरर्थवतीव भाति बहुधा चित्रस्वरूपान्विता।
शब्दब्रह्मवपुष्मती स्वरसतो भोगापवर्गप्रदा
तामाद्यामहमात्मिकां भगवतीं सद्यः स्थितां संश्रये।। ४८७।।

जो एक है, सहजभाव से उन्मिषित है, देह से लेकर विश्वपर्यन्त समस्त शब्दों से अर्थमयी बनती रही है, आज भी नाना चित्ररूपों को धारण करती है, शब्दब्रह्म शरीर को धारण करती है, स्वारसिक रूप से भोग और अपवर्ग को देने वाली है, सद्यः स्थित है, उस आद्या अहमात्मिका भगवती की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।। ४८७।।

ज्ञातं येन निजस्वरूपमभितश्चित्रैः स्वरूपैः स्थितं
भेदाभेदमयं विशुद्धविभवं जाज्वल्यमानं स्वतः।
दृष्टादृष्टसमस्तमेयजगतां बीजं विकल्पात्मनां
तेनाप्तं नरजन्मदुर्लभफलं विश्वात्मकत्वं स्फुटम्।। ४८८।।

जिसने भेदाभेदमय वैभव युक्त स्वप्रकाश अखण्ड स्वरूप को विकल्पात्मक जगत् के बीज रूप में जान लिया है उसने निश्चय ही मानवजन्म के दुर्लभ फल "विश्वात्मबोध" को भली-भाँति प्राप्त कर लिया है।। ४८८।।

विश्वस्यास्य विभासमानवपुषो देहावभासः परं
बीजं, तस्य निदानमेष परमं स्वस्याप्रकाशः किल।
भानाधारतयैव भातमहसि स्वस्मिन् स्वरूपे निजे
भानाभानविकल्पकल्मषतमो हित्वा प्रबुद्धोऽस्म्यहम्।। ४८९।।

विश्व-प्रपञ्च बन्धनरूप से जीव को प्रतीत होता है उसका मूलकारण देहात्मवासना है और उसका भी मौलिक कारण अखण्ड स्वप्रकाश चिन्मय स्वात्मा का अज्ञान है, यह अज्ञान अपूर्ण ज्ञान ही है। इसकी निवृत्ति, निखिल भानाधार तेजोमय निज स्वरूप की प्रत्यभिज्ञोदय से होती है। फलस्वरूप भानाभान का विकल्प रूप अन्धकार शुद्ध ज्योति के उदय से सदा के लिए दूर हो जाती है। ऐसा होने से ही मैं स्वप्न-जाल से निकलकर पूर्ण प्रबुद्ध हूँ और उल्लसित भी।। ४८९।।

निर्धूताखिलमेयमानसरणिः स्वीयस्वभावे स्थितो
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभानजनकं देहञ्च पश्यन्नपि।
बाह्यान्तः परिभातमेयमखिलं जानन् स्वशक्त्युद्गतं
नित्यानुग्रहवैभवो विजयते रामेश्वरो योगिराट्।। ४९०।।

मैं, सकल मेय-मान-मार्ग का विधूनन कर निजस्वभाव में स्थित हूँ। जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिभान में सहयोगी "देह" को देखता हुआ भी मैं बाह्य और आभ्यन्तर रूपों में प्रतिभासित सकल मेय को स्वशक्ति से उद्भूत जानता हूँ। अतः योगिराज रामेश्वर झा के रूप में नित्यानुग्रह के विराट् वैभव से परिपूर्ण होकर विराजमान हूँ।। ४९०।।

नानाशास्त्रनिषेवणश्रमफलं शैवागमोद्भासितं
स्वात्मानं शिवमेव शान्तमनसा व्यक्तं विकल्पोज्झितम्।
संदृश्याप्तशिवात्मभाव इतराँल्लोकानपीशेच्छया
नैजज्ञानगिरा प्रबोधयति यो राजेऽस्मि रामेश्वरः।। ४९१।।

अनेक शास्त्रों के सेवन का फल है शिव-भाव की स्वात्मप्रतिष्ठा। शैवागम के अनुशीलन से विकल्प वर्जित स्वात्ममहेश्वरता की अभिव्यक्ति होने से मैंने शिवात्मभाव को प्राप्त कर लिया है। तदनन्तर ईश्वर की इच्छा से आचार्य रामेश्वर झा के रूप में जिज्ञासु साधकों को शिवता की प्रत्यभिज्ञा हेतु दिव्य उद्बोधन करता रहता हूँ।। ४९१।।

न्यक्कृत्य सङ्केतमुखावलोकिनं
शब्दं विकल्पात्मकबोधकारिणम्।
यं वक्त्यसाङ्केतिकशब्दनं स्वतः
संवित्स्वरूपं च नतोस्मि तेन तम्।। ४९२।।

परिच्छिन्न अर्थ का बोध कराने वाले शब्द, विकल्पात्मक बोध कराते हैं क्योंकि नियत सङ्केत के द्वारा उनकी प्रवृत्ति होती है। ऐसे शब्दों का मैं आदर नहीं करता। जिस महार्थ को असाङ्केतिक शब्दन स्वतः साक्षात् प्रतिपादित करता है उस "संविद्" को मैं सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रणत होता हूँ।। ४९२।।

समाप्तकृत्योऽपरिशिष्टमेयो
विधूतदुःखः समवाप्तबोधः।
कृती कृतार्थोऽपरिमेयशक्तिः
कश्चिद् वपुष्मान् विजहाति मृत्युम्।। ४९३।।

जिन्होंने अपना कर्त्तव्य कार्य पूर्ण कर लिया है, जिनके लिये कोई

भी प्रमेय स्पृहणीय नहीं रह गया हैं, स्वात्मबोध की प्राप्ति से जिन्होंने समस्त दु:खव्रात को झटका दे दिया है, ऐसे कृतकृत्य सुकृती अपरिमित-शक्तिसम्पन्न होकर शरीरधारी रहकर भी मृत्यञ्जय बन जाते हैं।। ४९३।।

अभिन्नं वेत्ति यो विद्वान् स्वात्मानं च गुरुं शिवम्।
तं नौमि मुक्तमात्मानं विद्याऽविद्योभयात्मकम्।। ४९४।।

जो आत्मज्ञानी स्वयम् को श्रीगुरु को तथा शिव को अभेद-दृष्टि से जान लेता है ऐसे विद्या एवम् अविद्या उभयरूपों में उद्दीप्त जीवन्मुक्त को मैं प्रणत होता हूँ।। ४९४।।

दिव्याय देवाय दिगम्बराय
नित्याय शुद्धाय महेश्वराय।
रामेश्वरायाखिलविग्रहाय
स्वात्मैव रोचेत शिवस्वरूप:।। ४९५।।

आचार्य रामेश्वर झा शिवयोगी को महेश्वररूप स्वात्मा ही अत्यन्त प्रियरूप में स्पृहणीय है। क्योंकि विराट् दिव्य महादेव को उन्होंने विशुद्ध नित्यस्वात्मा के रूप में पहचान लिया है।। ४९५।।

देहात्मनो बोध्यमिदं समग्रं
स्वस्माद्विभिन्नं हि यथा विभाति।
देहोऽपि बोध्यत्वमुपागतोऽयं
स्वस्थस्य मे भाति स्वतो विभिन्न:।। ४९६।।

जैसे देह में आत्मबुद्धि करने वाले सामान्य जीव को समस्त वेद्य अपने से भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं, वैसे ही देह को भी वेद्य रूप में समझकर स्वरूप में स्थित मैं देह को भी स्वयं से भिन्नरूप में देखता हूँ।। ४९६।।

शिव उवाच

नाहमस्मि नचैवाहं त्वमेवासि शिवे! मम।

त्वमेवासि त्वमेवासि त्वमेव शरणं मम॥ ४९७॥

भगवान् शिव, देवी से कहते हैं- हे शिवे! आपके विना मैं नहीं हूँ, बिल्कुल नहीं हूँ। मेरा "सर्वस्व" तू ही हो, अत: एकमात्र तू ही मेरी शरण हो॥ ४९७॥

देव्युवाच

दिव्योसि दिव्यरूपोसि निर्मलोसि सदैव हि।

पूर्णया पूर्तिमायाहि मदभिन्नस्वरूपया॥ ४९८॥

देवी, शिव से कहती है– हे शिव! तू दिव्य हो, महादेव हो, सदा निर्मल हो, अपनी पूर्ण शक्ति (मुझ) से तू सदा परिपूर्णभाव का भोग करते हो॥ ४९८॥

अज्ञा एव जना ह्यस्मिन् जायन्ते जगतीतले।

ज्ञानेऽज्ञानमिवाज्ञाने ज्ञानं च गुरुभिर्धृतम्॥ ४९९॥

अज्ञानी लोग ही संसारी बनकर भटकते हैं। शिवयोगी गुरुजन, अज्ञान को शिव-ज्ञान में आश्रित समझते हैं तथा अज्ञानमय संसार में भी ज्ञानमयता का परित्याग नहीं करते॥ ४९९॥

साधक: शिव:

अप्रमेयो महादेवो यथैवास्ति प्रियो मम।

अप्रमेया महाशक्तिस्तथैवास्ति प्रिया मम॥ ५००॥

साधक शिव की अनुभूति है– अप्रमेय महादेव जैसे मेरे प्रिय है वैसे ही अप्रमेय महाशक्ति भी मुझे अत्यन्त स्पृहणीय हैं॥ ५००॥

पूर्त्तिस्त्वया विना नास्ति पूर्त्तिस्त्वं मम वल्लभे।

सर्वरूपा त्वमेवैका सिद्धैवासि सदा स्थिता।। ५०१।।

पर शिव, भगवती से कहते हैं– हे प्रिये! आपके विना मेरी पूर्ति नहीं है, तू विश्वरूप हो, सिद्ध हो, साध्य नहीं, तू सदा मुझसे अवियोज्यरूप में स्थित हो।। ५०१।।

बुभूषैव महामाया स्वप्रकाशस्य मे सतः।

त्रिकालसिद्ध एवास्मि भवेयञ्च कथं नु किम्।। ५०२।।

परशिव की यह अनुभूति है कि मैं सदा विद्यमान हूँ, स्वप्रकाश हूँ, फिर भी कुछ भव्य बनने की इच्छा होती है इसका नाम **महामाया** है। जबकि यह सुस्पष्ट है कि "जब मैं त्रिकालसिद्ध हूँ तो मैं कुछ भव्य बनूँ" यह कथमपि सम्भव नहीं है।। ५०२।।

भवान्न भविता भूयः सिद्धत्वादिति निश्चयः।

कथं भविष्णुतामेति परिच्छिन्नस्वभावताम्।। ५०३।।

आप स्वयम् सिद्ध हैं अतः आप किसी स्वरूप का आकलन कर अपने स्वरूप को प्राप्त करेंगे ऐसा कैसे हो सकता है? मैं "भविष्णु हूँ" इस परिच्छिन्न स्वभाव को कैसे स्वीकारता हूँ?।। ५०३।।

शक्तिः सैवास्ति मे देवी जगत्सूः प्राणवल्लभा।

स्वभावाख्या परिच्छिन्नकर्त्तृत्वप्रसरप्रदा।। ५०४।।

सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाली मेरी दिव्य-प्राणप्रिया-शक्ति परिच्छिन्न कर्तृता का प्रसर करती है। यह उसका स्वभाव है अन्य कुछ नहीं।। ५०४।।

हित्वा तां कर्त्तृतामस्मि शुद्धः स्वच्छः सनातनः।

एकरूपोऽप्यनेकात्मा विश्वरूपोऽप्यरूपकः।। ५०५।।

मैं उस परिच्छिन्न कर्तृता का परित्याग कर देता हूँ। फलस्वरूप शुद्ध सनातन स्वच्छ भाव में निवास करता हूँ। मैं एकरूप होता हुआ भी अनेकात्मा हूँ, विश्वरूप होता हुआ भी अरूप हूँ॥ ५०५॥

न व्याप्यो व्यापको नाहं नादेही नापि देहवान्।
नास्पन्दो नापि सस्पन्दो नास्म्यहं न च नास्म्यपि॥ ५०६॥

न मैं व्याप्य हूँ न व्यापक हूँ, न देहवर्जित हूँ न देहवान् हूँ। मैं स्पन्दवर्जित नहीं हूँ और स्पन्दयुक्त भी नहीं हूँ। मैं नहीं हूँ और मैं नहीं हूँ ऐसा भी नहीं है॥ ५०६॥

यद् यद् भाति मयि प्रकाशवपुषि स्वच्छे स्वतन्त्रेऽद्वये।
तत्तद्रूपतया विभामि सततं देहात्मना संस्थितः।
त्यक्त्वा कालकृताकृतेश्च कलनां तिष्ठन् स्वरूपे निजे
सर्वाधारतयाथ सर्वरहितो भासेऽहमेवाद्वयः॥ ५०७॥

मैं प्रकाशत्मा हूँ, स्वच्छ हूँ, स्वतन्त्र हूँ और अद्वय स्वरूप हूँ। मुझमें जो कुछ भासित होता है उस रूप से मैं ही भासित होता हूँ। परिच्छिन्न देह में रहता हुआ भी कालकृत आकृतियों के आकलन को परित्याग कर मैं अपने स्वरूप में स्थित रहता हूँ अतः विश्वोत्तीर्ण होकर सम्पूर्ण विश्व का आधाररूप मैं अद्वय रूप में भासमान हूँ॥ ५०७॥

कर्त्तव्यं नहि मे किञ्चिद् भवितव्यं च मे नहि।
नित्यतृप्तस्य पूर्णस्य प्राप्यं त्याज्यं च किं भवेत्॥ ५०८॥

मेरे लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है और कुछ भव्य बनना भी नहीं है क्योंकि नित्य तृप्त और पूर्ण को कुछ भी प्राप्य और त्याज्य सम्भव ही नहीं होता॥ ५०८॥

स्पन्दनिर्णयः

अस्त्येव योऽर्थः परिपश्य तं त्वं
तस्यास्तितां स्पन्दमयीञ्च नित्याम्।
देहं तदुद्भूतकलामपश्यन्
कुर्वन् समाप्नोषि समीहितं प्राक्॥ ५०९॥

जो वस्तु सदा विद्यमान है उसे तू देखों और उसकी अस्तिता नित्यस्पन्दमयी है यह आकलन भी करो। फिर तुम यह अनुभव करोगे कि देह एवम् उससे उद्भूत कला को नहीं देखने से तुम अभीप्सित स्वात्म-स्वरूप को शीघ्र ही प्राप्त कर लोगे, अर्थात् स्वस्वरूप में उल्लसित हो जाओगे॥ ५०९॥

स्वात्मैव वस्त्वस्ति तदस्ति सिद्धं
साध्यं तयाप्यस्ति तदात्मकत्वम्।
अस्मिंश्च सिद्धे परिभाति सिद्धः
स्वात्मान्यथा नैव विभाति सिद्धः॥ ५१०॥

स्वात्मा ही परमार्थ है। वह नित्य सिद्ध है तथापि स्वात्मरूपता मानव शरीर से साध्य है। स्वात्म महेश्वरता की सिद्धि होने पर निजात्मा सिद्ध रूप से भासित होने लगता है अन्यथा वह सिद्धरूप से भासित नहीं होता॥ ५१०॥

यद् वस्तु रोचते तुभ्यं देवं तदधिनायकम्।
शब्दात्मकं समालिङ्गय सद्यस्तत्स्ववशे नय॥ ५११॥

जो वस्तु तुझे अच्छा लगता है उस वस्तु का अधिदेव जो शब्द है उसको पकड़कर उस वस्तु को अपने अधीन कर लो॥ ५११॥

स्पन्दः प्राणात्मकः पूर्णश्चेतनस्य सदैव मे।
देहसंश्लेषतो भाति ह्यपूर्णो देहमातरि।। ५१२।।

चेतन स्वात्मा का प्राण है पूर्ण-स्पन्द देह प्रमातृता को स्वीकारने से देह–सम्पर्कवशात् वह स्पन्द अपूर्ण रूप से भासित होने लगता है।। ५१२।।

स्पन्दनं मे निजं रूपं तच्छुद्धं सर्वदैव हि।
स्पन्दमानः सदैवास्मि नित्यः पूर्णः सनातनः।। ५१३।।

स्पन्दन निज रूप है, वह सदा शुद्ध है। मैं सदा स्पन्दमान हूँ, नित्य हूँ, पूर्ण हूँ एवम् सनातन हूँ।। ५१३।।

स्पन्द एव प्रकाशो मे विश्रान्तिश्च निजात्मनि।
अदृष्ट्वा देहसंस्पर्शं तं पश्यामि निजात्मकम्।। ५१४।।

स्पन्द मेरा प्रकाश है तथा निजात्म-विश्रान्ति है। देह-स्पर्श का परित्याग कर मैं उसे निजरूप में देखता हूँ।। ५१४।।

प्राणना देहसंस्पर्शो मृत्युः स्वस्मिंश्च संगमः।
स्पन्दस्य विलयो ज्ञेयो ज्ञातः स्पन्दः समाधिदः।। ५१५।।

देह संस्पर्श प्राणना कहलाता है। स्वरूप में संगम होना मृत्यु है। मृत्यु के पश्चात् स्पन्द विलीन हो जाता है। ऐसा स्पन्द ज्ञात-मात्र होने से समाधि-फल को देता है।। ५१५।।

स्पन्दः प्राणनमेतद्धि देहसंस्पर्शमागतः।
स एव स्वात्मभूतः सन् समाधिः स्वात्मनि स्थितिः।। ५१६।।

देह संस्पर्श को प्राप्त स्पन्द प्राण कहलाता है और देह-स्पर्श से वर्जित स्पन्द स्वात्म-स्वरूप है, वही समाधि कहलाता है। स्वरूपस्थिति ही समाधि है और कुछ नहीं।। ५१६।।

स्पन्दो देहगतो दृष्टो देहात्मत्वप्रदायकः।
प्रकाशात्मतया ज्ञातः सर्वसिद्धिप्रदायकः॥ ५१७॥

देह में स्थित स्पन्द देहात्मता का आधान करता है किन्तु प्रकाश रूप से ज्ञात होने पर वह समस्त सिद्धियों को प्रदान करता है॥ ५१७॥

स्पन्दो ध्वनिस्तथानादो भवत्येषैव भावना।
स्फुटतामागतः स्फोटः स शब्दोऽर्थप्रकाशकः॥ ५१८॥

स्पन्द ध्वनि है, नाद है, भावना भी वही है और स्फुटता के प्राप्त होने पर वही स्फोट कहलाता है। शाब्दिक लोग उसे अर्थ-प्रकाशक शब्द कहते हैं॥ ५१८॥

उज्जृम्भते स्वतः स्वात्मादरूपाच्च स्वरूपतः।
स्पन्दो देहसमुद्भूतरूपतामेति मायया (जीवतः)॥ ५१९॥

स्पन्द स्वतः अरूप है, स्वस्वरूप से विजृम्भित होता है किन्तु मायापद में वह देह से उत्थित हुआ सा प्रतीत होता है॥ ५१९॥

जन्ममृत्यू न मे भातः स्पन्दो मे स्वात्मनि स्थितः।
भातस्ते तस्य, यस्यास्ति स्पन्दो देहे न चात्मनि॥ ५२०॥

मुझे जन्म और मृत्यु का भान नहीं होता है क्योंकि स्पन्द मेरे स्वात्मा में स्थित है। जन्म और मृत्यु उसे प्रतिभात होते हैं जिसका स्पन्द देहस्थ है, आत्मस्थ नहीं॥ ५२०॥

स्पन्द एव स्वरूपं मे सत्ता मे स्पन्द एव सः।
शक्तिः शक्तिमतो मेऽस्ति स्वरूपस्थास्तितातप्रदः॥ ५२१॥

स्पन्द ही मेरा स्वरूप है, मेरी सत्ता है, मेरी शक्ति है और मेरे स्वरूप की अस्तिता को सुघटित करने वाला है॥ ५२१॥

सिद्धिर्देहात्मनो लोके देहस्पन्दजयाद् भवेत्।
परस्पन्दस्य विज्ञानात् परा सिद्धिः परात्मनः।। ५२२।।

देह-स्पन्द पर विजय प्राप्त करने से लोक में देहात्मा की ही सिद्धि देखी जाती है, पर सिद्धयोगियों को 'परस्पन्द' का ज्ञान होता है अतः वे 'परासिद्धि' से उल्लसित होते हैं।। ५२२।।

उन्मिषन्नहमेवास्मि निमिषन्नस्म्यहमेव हि।
उन्मेषोपि निमेषोपि मयि भातो निरञ्जने।। ५२३।।

उन्मेष करता हुआ तथा निमेष करता हुआ मैं ही स्थित होता हूँ। निरञ्जन स्वात्म-महेश्वर में उन्मेष तथा निमेष का भान स्वतः प्रवृत्त होता है।। ५२३।।

संस्थितोऽप्यहमेवास्मि गच्छन्नस्म्यहमेव हि।
स्थितिर्गतिश्च मे शक्ती एकैव स्पन्दनात्मिका।। ५२४।।

ठहरा हुआ मैं ही रहता हूँ। चलता हुआ भी मैं ही रहता हूँ। स्थिति और गति दोनों ही मेरी शक्ति हैं और ये दोनों स्पन्दन रूप में एक ही है।। ५२४।।

प्रशान्तोऽप्यहमेवास्मि ह्यस्म्यशान्तोप्यहं पुनः।
शान्त्यशान्ती उभे एव पश्यन्नस्मि पुनः पुनः।। ५२५।।

अत्यन्त प्रशान्त मैं हूँ और अत्यन्त अशान्त भी मैं ही हूँ क्योंकि शान्ति एवम् अशान्ति इन दोनों का द्रष्टा मैं पुनः पुनः होता रहता हूँ।। ५२५।।

तिष्ठेयमित्थमेवाहं नानित्यं स्यां कदाचन।
इति या वासना सैव स्वप्रकाशविलोपिका।। ५२६।।

मैं इसी तरह से स्थित रहूँ, कभी बदलूँ नहीं, अनित्य न हो जाऊँ ऐसी वासना ही देहधारियों के स्वप्रकाश भाव का हरण कर लेती है।। ५२६ ।।

अहं प्रकाशमानोस्मि सर्वत्रैव सदैव च।
लोकवासनया किञ्चिद् वाञ्छन्भाम्यप्रकाशवान्।। ५२७।।

मैं सदा सर्वत्र प्रकाशमान हूँ। लोकवासना से यत्किञ्चित् वस्तु को चाहता हुआ मैं अप्रकाशवान् हो जाता हूँ।। ५२७।।

पूर्णोऽप्यपूर्णतां यामि वाञ्छन् वाञ्छन् पुनः पुनः।
वाञ्छां विसृज्य तिष्ठामि भानमात्रः सदाशिवः।। ५२८।।

मैं पूर्ण रहता हुआ भी अपूर्ण हो उठता हूँ क्योंकि बार-बार परिच्छिन्न वस्तुभाव को चाहता हूँ। पुनश्च मैं परिच्छिन्न अभिलाष का त्याग कर स्थित होने पर भान मात्र पूर्ण शिवरूप में प्रतिष्ठित होता हूँ।। ५२८।।

वाञ्छाहीनोस्ति पाषाणः सोपि पूर्णोस्ति किं ननु।
नहि चेत् पूर्णता वाच्या किं तस्या लक्षणं ननु।। ५२९।।

वाञ्छा-हीन पाषाण भी होता है तो क्या वह पूर्ण शिव कहला सकता है? यदि वह पूर्ण नहीं कहला सकता तो पूर्ण होने की परिभाषा क्या हो सकती है?।। ५२९।।

नावस्था पूर्णता सा या वाञ्छा पूर्त्तिः पुनः पुनः।
अन्या नोदेति यत्पूर्त्तौ सा पूर्त्तिः पूर्णता मता।। ५३०।।

वह अवस्था पूर्णता नहीं कहला सकती जहाँ पुनः-पुनः वाञ्छा की पूर्ति अपेक्षित हो। पूर्णता तो उस सम्पूर्ति का नाम है जिसकी पूर्ति में अन्य वाञ्छापूर्ति अपेक्षित न हो।। ५३०।।

स्वात्मस्मृतिः सर्वसुखप्रदात्री
सैवास्ति भक्तिः परमेश्वरस्य।
स्वात्मस्थितिः स्वात्मरतिश्च सैव
क्रियापि सैवास्त्यणिमादिदात्री।। ५३१।।

स्वात्मस्मृति सभी सुखों को देने वाली है, वही परमेश्वर की भक्ति है, वही स्वात्म-स्थिति है, वही स्वात्म-रति है और वही अणिमादि सिद्धिदात्री क्रिया है।। ५३१।।

म०म० आचार्य रामेश्वरझाविरचितं संवित्स्वातन्त्र्यम् परिपूर्णम्।

अनुवादग्रन्थकृत्–

आचार्य कमलेशझा

।। अकारादिवर्णक्रमेण श्लोकसूची ।।

अ

आ

इ

उ

ऊ

ए

क

ग

च

ज

त

द

न

प

फ

ब

भ

म

य

र

ल

व

श

स

ह